विवेक
ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
वर्षः २२
अंकः २
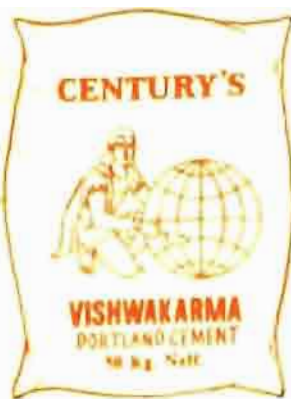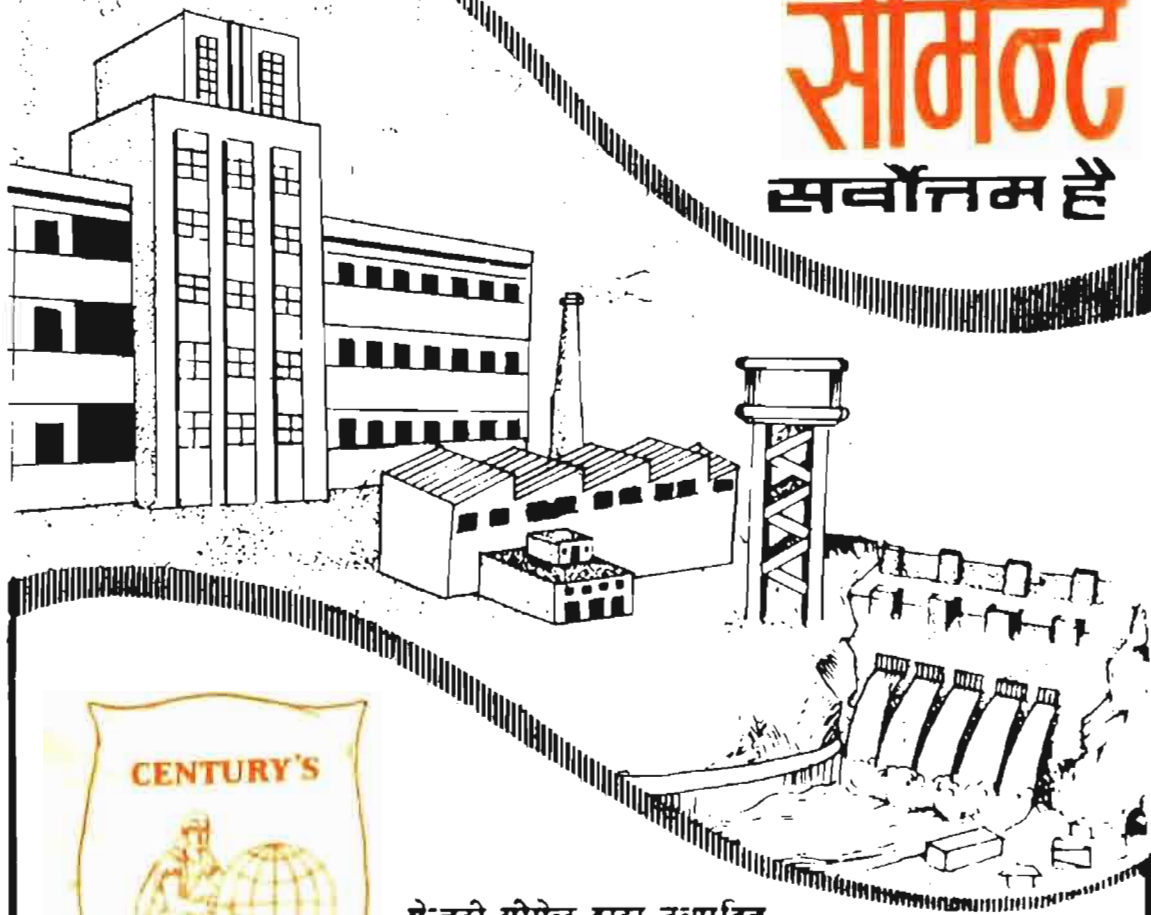
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल — मई — जून

★ १९८४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

सह-व्यवस्थापक

•स्वामी ज्ञानातीतानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर—४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २२] अप्रैल–मई–जून ★ १९८४ ★ [अंक २

ब्रह्मज्ञान का फल

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ।।

—जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष की भी कामवृत्ति माता को देखकर कुण्ठित हो जाती है, उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म को जान लेने पर विद्वान् की संसार में प्रवृत्ति नहीं होती ।

—विवेकचूड़ामणि, ४४५

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

अल्मोड़ा,

९ जुलाई, १८९७

अभिन्नहृदयेषु,

हमारी संस्था के उद्देश्य का पहला प्रूफ मैंने संशोधित करके आज तुम्हारे पास वापस भेजा है। उसके नियम-वाले अंश (जो हमारी संस्था के सदस्यों ने पढ़े थे) अशुद्धियों से भरे हैं। उसे सावधानी से ठीक करके छपवाना, नहीं तो लोग हँसेंगे।

. . .बरहमपुर में जैसा काम हो रहा है वह बहुत ही अच्छा है। इसी प्रकार के कामों की विजय होगी—क्या मात्र मतवाद और सिद्धान्त हृदय को स्पर्श कर सकते हैं? कर्म, कर्म—आदर्श जीवन यापन करो—सिद्धान्तों और मतों का क्या मूल्य? दर्शन, योग और तपस्या—पूजागृह—अक्षत चावल या शाक का भोग—यह सब व्यक्तिगत अथवा देशगत धर्म है। किन्तु दूसरों की भलाई और सेवा करना एक महान् सार्वलौकिक धर्म है। आबालवृद्धवनिता, चाण्डाल—यहाँ तक कि पशु भी इस धर्म को ग्रहण कर सकते हैं। क्या मात्र किसी निषेधात्मक धर्म से काम चल सकता है? पत्थर कभी अनैतिक कर्म नहीं करता, गाय कभी झूठ नहीं बोलती, वृक्ष कभी चोरी या डकैती नहीं करते, परन्तु इससे होता क्या है? माना कि तुम चोरी नहीं करते, न झूठ बोलते हो, न अनैतिक जीवन व्यतीत करते हो, बल्कि चार घण्टे प्रतिदिन ध्यान करते हो, और उसके दुगुने घण्टे तक भक्तिपूर्वक घण्टी बजाते हो—परन्तु अन्त

है इसका उपयोग क्या है ? वह कार्य यद्यपि थोड़ा ही है, परन्तु सदा के लिए बरहमपुर तुम्हारे चरणों पर नत हो गया है--अब जैसा तुम चाहते हो वैसा ही लोग करेंगे। अब तुम्हें लोगों से यह तर्क नहीं करना पड़ेगा कि 'श्रीरामकृष्ण भगवान् हैं'। काम के बिना केवल व्याख्यान क्या कर सकता है ! क्या मीठे शब्दों से रोटी चुपड़ी जा सकती है ? यदि तुम दस जिलों में ऐसा कर सको तो वे दसों तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएँगे। इसलिए समझदार लड़के की तरह इस समय अपने कर्मविभाग पर ही सबसे ज्यादा जोर दो, और उसकी उपयोगिता को बढ़ाने की प्राणपण से चेष्टा करो। कुछ लड़कों को द्वार द्वार जाने के लिए संगठित करो, और अलखिया साधुओं के समान उन्हें जो मिले वह लाने दो--धन, पुराने वस्त्र, या चावल या खाद्य पदार्थ या और जो कुछ भी मिले। फिर उसे बांट दो। वास्तव में यही सच्चा कार्य है। इसके बाद लोगों की श्रद्धा होगी, और फिर तुम जो कहोगे वे करेंगे।

कलकत्ते की बैठक के खर्च को पूरा करने के बाद जो बचे, उसे दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता के लिए भेज दो, या जो अगणित दरिद्र कलकत्ते की मैली-कुचैली गलियों में रहते हैं, उनकी सहायता में लगा दो--स्मारक भवन और इस प्रकार के कार्यों का विचार त्याग दो। प्रभु जो अच्छा समझेंगे वह करेंगे। इस समय मेरा स्वास्थ्य अति उत्तम है।

उपयोगी सामग्री तुम क्यों नहीं एकत्र कर रहे हो ?--मैं स्वयं वहाँ आकर पत्रिका प्रारम्भ करूँगा। प्रेम और सहानुभूति से सारा संसार खरीदा जा सकता है; व्याख्यान, पुस्तकें और दर्शन का स्थान इनसे नीचा है।

कृपया शशि को लिखो कि गरीबों की सेवा के लिए

इसी प्रकार का एक कर्मविभाग वह भी खोले।

...पूजा का खर्च घटाकर एक या दो रुपये महीने पर ले आओ। प्रभु की सन्तानें भूख से मर रही हैं... केवल जल और तुलसी-पत्र से पूजा करो और उसके भोग के निमित्त धन को उस जीवित प्रभु के भोजन में खर्च करो, जो दरिद्रों में वास करता है। तभी प्रभु की सब पर कृपा होगी। योगेन यहाँ अस्वस्थ रहा, इसलिए आज वह कलकत्ते के लिए रवाना हो गया है। मैं कल देवलधार फिर जाऊँगा। तुम सभी को मेरा प्यार।

सस्नेह,

विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

पाँचवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।——स०)

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों में एक ओर जहाँ उच्चतम आदर्श की बातें हैं, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक जगत् की उपयोगी बातें भी हैं।

अधिकारी-भेद से उपदेश-दान

संसार के समस्त लोगों के कल्याण के लिए जिनका आगमन हुआ है, उनकी शिक्षा क्या कभी मुट्ठी भर लोगों के लिए हो सकती है? ऐसा होने से तो अधिकांश लोग उनकी शिक्षा से वंचित रह जाएँगे। इसीलिए एक ओर वे जैसे सब कुछ सहने का उपदेश देते हैं, वैसे ही दूसरी ओर आवश्यक होने पर गृहस्थ को फुफकारने को भी कहते हैं।

ब्रह्मचारी और सर्प का उपाख्यान

इस प्रसंग में ब्रह्मचारी और सर्प के आख्यान का उल्लेख करते हुए वे बोले कि गृहस्थ को आत्मरक्षा के

लिए इस फुफकार की आवश्यकता है। लेकिन त्यागी के लिए विधान दूसरा है, स्वयं की रक्षा के लिए भी उसके लिए यह फुफकारने का विधान नहीं है। उसके लिए नियम बड़े कठोर हैं। इस फुफकारने का अर्थ आदर्श के साथ समझौता करना नहीं है, बल्कि यह है कि आदर्श को जीवन में व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर लेना होगा, जिससे साधारण मनुष्य के जीवन में वह धीरे धीरे सध जाय। ठाकुर कई बार अपने भावी त्यागी-सन्तानों को लक्ष्य कर त्याग-वैराग्य का उपदेश देते थे। उपदेश देते देते जब उन्हें ध्यान आता कि इस समय यहाँ ऐसे भी बहुत से लोग उपस्थित हैं, जो त्याग के इतने उच्च आदर्श का अनुसरण नहीं कर पाएंगे, तब वे कहते, "हमने वह एक बात कह दी, इसमें से तुम लोग सिर-पैर छोड़कर ले लो।" अर्थात् तुम लोगों को जितना सह्य हो, ग्रहण कर लो। यह जो अधिकारी का विचार करना है, यह आचार्य का काम है। एक ही प्रकार का आदर्श सबके लिए नहीं होता, इसलिए एक ही प्रकार का उपदेश भी सबके लिए नहीं है। तभी तो हमारे शास्त्रों में विभिन्न प्रकार के आदर्शों का उल्लेख है; सबके लिए एक ही आदर्श का विधान नहीं किया गया है। जहाँ पर इस नियम का उल्लंघन हुआ है, वहाँ पर देखा गया है कि उसका परिणाम समाज के लिए घातक हुआ है। जैसे, बौद्ध धर्म के प्रसार के समय संन्यास के आदर्श पर इतना बल दिया गया कि साधारण जन जो सन्यास-जीवन के अधिकारी नहीं थे, वे भी दल के दल संन्यासी बनने लगे थे। परिणाम यह हुआ कि अनधिकारी के

हाथ में पड़कर संन्यास का आदर्श अपने मूल लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया। लेकिन गीता के युग में हम एक भिन्न प्रकार का चित्र देखते हैं। गीता में अधिकारी-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न उपदेश हैं। यह अवश्य है कि कुछ साधारण नियम सबके लिए उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु उनमें यदि लचीलापन न हो, तो वे समाज में चल नहीं पाएँगे। ऐसा न हो सका, तो आदर्श की अवनति होती है। इस प्रकार की घटना किसी एक युग में नहीं, अनेक युगों में हुई है। इसीलिए तो भगवान् को बार-बार आना पड़ता है और पुरानी बातों को नये सन्दर्भ में रखना पड़ता है। तभी तो गीता में भगवान् कहते हैं--"स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः"--'वह प्राचीन योग ही तुमसे पुनः कहता हूँ।'

श्रीरामकृष्ण और वर्तमान पथ

ठाकुर ने अनेक बार यह बात कही है कि धर्म सनातन है। उसमें कोई नयी बात देने योग्य नहीं होती, पर हाँ, पुराने सत्य को नये ढंग से परोसना होता है। सामाजिक परिस्थिति के अनुसार प्राचीन शिक्षा ही थोड़ा भिन्न रूप ले लेती है; पर मूल तत्त्व में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् जैसे सनातन हैं, भगवान् को पाने का पथ भी उसी प्रकार सनातन है। तथापि इस सनातन तत्त्व अथवा उनको पाने के पथ में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य है। जब अवतार आते हैं, तब वे इस तत्त्व और पथ को उस युग के लिए उपयोगी बनाकर समाज में उसका प्रचार करते हैं। अतः उनकी शिक्षा के भीतर भी दो उद्देश्य रहते हैं। एक तो है सनातन तत्त्व को फिर से जीवित करना, प्राणवन्त करना; तथा दूसरा है उन तत्त्वों को युगोपयोगी बनाना।

ठाकुर के जीवन में भी हम देखते हैं कि वे धर्म के सनातन तत्त्वों को प्राणवन्त बनाकर, सबके लिए बोधगम्य करके सहज सरल रूप से सबके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं, तथा यह भी कि उनके दर्शन से ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अविश्वास दूर हो जा रहा है एवं मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य स्पष्ट हो जा रहा है। यही नहीं, उन्होंने धर्म को तरह-तरह से युगोपयोगी भी बनाया है। वे कहते हैं, "देखो, कलियुग में नारदीया भक्ति है। आजकल मनुष्य के पास इतना समय और सामर्थ्य नहीं है कि वह योग-यज्ञ या सन्ध्या-वन्दनादि में इतना लम्बा समय बिता सके। अब तो केवल गायत्री करने से ही होगा। सन्ध्या का लय गायत्री में होता है और गायत्री का लय ॐकार में।"

उनका नाम लेने की बात पर कहते हैं, "उनका नाम लेना वन में, कोने में, मन में।" जो जिस तरह हो सके, मन में, वन में, कोने में उनका चिन्तन करे। बीच-बीच में एकान्त में वास करना सबके लिए नितान्त आवश्यक है—यह बात ठाकुर बार-बार कहते हैं। फिर भी यदि किसी के लिए यह सम्भव न हो, तो उसके लिए भी उपाय है। वह कोने में बैठकर नाम लेगा। यह भी यदि सम्भव न हो, तो वह केवल मन ही मन उनका नाम लेगा।

धर्म को युगोपयोगी बनाने के लिए ठाकुर के अजस्र उपदेश हैं। उनमें से एक बात पर स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्दजी) ने विशेष जोर दिया है; वह यह कि 'जीव पर दया नहीं; ईश्वर-बुद्धि से जीव-सेवा।' दया करने पर दया के पात्र की तुलना में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होगा। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "दया कैसी रे? तू दया करनेवाला होता कौन है? तू सेवा करेगा। सर्व—

भूतों में वे ही हैं, यह समझकर शिव-बुद्धि से जीव की सेवा करेगा।"

शिव-ज्ञान से जीव-सेवा

यह बात सुनते ही स्वामीजी ने कहा था, "आज मैंने एक अपूर्व बात सुनी; यदि भगवान् ने अवसर दिया, तो इस बात को कार्यरूप में परिणत करूँगा।" यद्यपि ठाकुर के इस उपदेश से वे सूत्र तो पा लेते हैं, लेकिन इसके उपरान्त भी वे ठाकुर के समक्ष पूरी तरह से आत्म-समर्पण नहीं कर देते, बल्कि प्रतिवाद करते हैं। किन्तु धीरे-धीरे वे समझ जाते हैं कि उनके लिए यह सम्भव नहीं कि ठाकुर की बातों को नकार सकें। तभी तो अन्त में उनको कहना पड़ा, "इस पागल ब्राह्मण के पैरों में इस बार के लिए तो मेरा सिर बिक गया!" स्वामीजी के सेवाधर्म का——शिव-ज्ञान से जीव-सेवा का जो भाव है, उसका सूत्रपात यहीं से होता है। और यह ठाकुर की युगोपयोगी शिक्षा का एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इस प्रकार के दृष्टान्त हम उनके जीवन की अनेक घटनाओं में, उनके अनेक उपदेशों में पाएँगे। जैसे-जैसे दिन बीतेंगे, मनुष्य उन उपदेशों के भीतर से उनकी शिक्षा के नये नये सूत्र निकालेंगे।

साँप और ब्रह्मचारी की कहानी में हम देखते हैं कि ब्रह्मचारी साँप को काटने से मना करता है, लेकिन फुफकारने से मना नहीं करता। किसी का अनिष्ट करने से मना करता है, लेकिन अन्याय को बिना सोचे-विचारे सहन करने के लिए नहीं कहता।

पात्र के अनुसार उपदेश

फिर अधिकारी-भेद से उनकी शिक्षा में भी तारतम्य है। जब उन्होंने सुना कि निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द)

नौका द्वारा आते समय उनकी निन्दा होते सुन उन निन्दकों सहित नौका को डुबा देना चाहते थे, तब उनको डाँटते हुए बोले, "यह क्या रे! लोग कितनी ही बातें करते हैं, पर इसलिए क्या तू नौका डुबो देगा!" और ठीक इसका विपरीत चित्र हम स्वामी योगानन्द के जीवन में पाते हैं। वे भी इसी प्रकार एक दिन नौका से दक्षिणेश्वर आ रहे थे। कुछ यात्री ठाकुर पर कटाक्ष कर रहे थे, पर उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया। जब ठाकुर को इसका पता चला, तो उन्होंने बिना प्रतिवाद किये गुरु-निन्दा सुन लेने के लिए योगानन्दजी की भर्त्सना की। यह एक दूसरे प्रकार की शिक्षा है। इस प्रकार उनकी शिक्षा में कितना वैचित्र्य है। एक बार उन्होंने अपने कपड़े के बक्से में तिलचट्टे का बसेरा देखा। उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा कि वह तिलचट्टे को ले जाकर मार आए। वह शिष्य प्रकृति से अत्यन्त कोमल था। वह तिलचट्टे को बाहर लेगया और बिना मारे छोड़ आया। यह जान ठाकुर ने उस शिष्य की भर्त्सना की। शिष्य तो अवाक् हो गया। उसने सोचा था कि कहाँ उसमें अहिंसा की पराकाष्ठा देख ठाकुर उस पर प्रसन्न होंगे और कहाँ बात उल्टी हो गयी। लेकिन ठाकुर की भर्त्सना का उद्देश्य यह था कि यदि शिष्य उनकी आज्ञानुसार कार्य न कर अपनी इच्छानुसार करते रहें, तब तो साधन-पथ में उनके लिए बड़ी विपत्ति की सम्भावना है।

बद्धजीव और मुक्ति का उपाय

इसके बाद ठाकुर विभिन्न प्रकार के जीवों की बात कहते हैं। चार प्रकार के जीव हैं——बद्धजीव, मुमुक्षुजीव, मुक्तजीव और नित्यमुक्तजीव। जो बद्धजीव हैं, वे सब समय बन्धन में ही रहते हैं और इस बन्धन में ही उनका

आनन्द है। मुमुक्षुजीव इस बन्धन से मुक्ति पाने की चेष्टा करते हैं और उनमें से कोई कोई बन्धन काटकर निकल भी जाते हैं। ऐसे लोगों को कहा जाता है––मुक्तजीव। नित्यमुक्तजीव वे हैं, जो कभी भी महामाया के जाल में नहीं फँसते।

बद्धजीव के सम्बन्ध में ठाकुर कह रहे हैं, "बद्धजीव संसार में कामिनी-कांचन में बँधे रहते हैं, उनके हाथ-पाँव बँधे हुए हैं। . . .देखा कि समय नहीं कट रहा है तो ताश खेलने लगते हैं।" उनकी बात सुनकर सब स्तब्ध हैं। यह श्रोताओं को स्तब्ध कर देनेवाली ही बात है, क्योंकि ऐसा दृश्य तो उन सभी ने देखा है, लेकिन इस दृष्टि से कभी विचार ही नहीं किया। ससार में जो नौकरी से अवकाश ग्रहण करते हैं, उनको देखने से समझा जा सकता है कि ठाकुर ने किस प्रकार हूबहू चित्र खींचा है। जिस समय का प्रत्येक क्षण हमारे लिए अमूल्य है, उसको किसी प्रकार काट देने की हमारी यह कैसी प्राणपण चेष्टा होती है! समय की इस बंधी सीमा के बीच जीवन के उद्देश्य को सफल करना कितना कठिन है; कहाँ इसके लिए एक उत्कण्ठा, एक तीव्र व्याकुलता होनी चाहिए, सो तो नहीं, उल्टा यह सोचते हैं कि समय किस तरह काटेंगे। यदि हम सचमुच इस बन्धन को बन्धन समझकर अनुभव करते, तब तो यह बन्धन हमें असह्य प्रतीत होता। पर जहाँ बन्धन का ही बोध नहीं, वहाँ उसे काटने की चेष्टा कैसे होगी? उल्टा यदि कोई हमें उस बन्धन से मुक्ति का पथ दिखला दे, तो हम प्रश्न करते हैं कि उस मुक्ति में हमें क्या सुख है? कुछ दिन पहले चर्चा चल रही थी––'सहस्र बन्धन बीच पाऊँगा मुक्ति का स्वाद।' तो यह 'बन्धन बीच' क्यों? उसके प्रति

बड़ा आकर्षण है क्या इसलिए ? मुक्ति का स्वाद चाहिए यह तो बहुत अच्छी बात है, लेकिन वह बन्धन के बीच क्यों ?

हम लोग प्राय: कल्पना करते हैं कि मृत्यु के उपरान्त जब हम स्वर्ग जाएँगे, तब वहाँ अपने स्वर्गीय आत्मीय-स्वजनों से हमारी भेंट होगी, एक family reunion ––पारिवारिक मिलन जैसा होगा। वहाँ हमारा कोई शत्रु नहीं जाएगा; वहाँ केवल वे ही रहेंगे, जिन्हें हम पसन्द करते हैं। हममें से जो शास्त्र को मानते हैं, ईश्वर को मानते हैं, अपने को शुद्धाचारी मानते हैं––फिर वह आचार जैसा भी क्यों न हो––यही सोचते हैं कि हमारे पास ही स्वर्ग का एकाधिकार रहेगा। अभी प्रत्यक्ष में हम इस संसार का भोग कर रहे हैं और मृत्यु के उपरान्त कल्पित परलोक का एक सुनहला स्वप्न देखते हैं, जिस परलोक में इस जगत् के सारे बन्धन ही साथ रहेंगे। जीव की बद्धावस्था का यह एक चरम दृष्टान्त है। इसलिए कई बार हम सोचते हैं कि हमारे समान संसारी जीवों के लिए, बद्धजीवों के लिए क्या कोई उपाय है ?

लेकिन ठाकुर इस प्रकार की निराशा की बात सुनना पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए वे कह रहे हैं, "उपाय अवश्य है। बीच-बीच में साधु-संग और निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए, विचार करना चाहिए, प्रार्थना करनी चाहिए कि मुझे भक्ति-विश्वास दो।" इन उपायों में से कोई भी इतना कठिन नहीं है, जिसे नितान्त संसारी से संसारी जीव भी न कर सके। हमारी जो दुर्दशा है, उसे हम समझते तो हैं, लेकिन साथ-साथ यह विश्वास रखना भी आवश्यक है कि इस बन्धन से मुक्ति का उपाय भी है,

और वह हमारे हाथ में ही है। ऐसा न होने से जीव तो हताशा के अन्धकार में डूब जाएगा।

बौद्ध धर्म और गीता-मत

बौद्ध धर्म में मुख्य बात है 'चतुरार्य-सत्य' अर्थात् चार आर्य सत्य। इनमें प्रथम है--'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं दुःखम्'--सब कुछ क्षणिक और दुःखमय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं--'अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व्-माम्'--इस अनित्य और सुखरहित जगत् को पाकर मुझे भजो। अब मिलाकर देखें--बुद्ध कहते हैं 'क्षणिक' और भगवान् कृष्ण कहते हैं 'अनित्य'। बुद्ध कहते हैं 'सर्वं दुःखम्' और कृष्ण कहते हैं 'असुखम्'। इनकी बातों में कोई अन्तर नहीं है। यह संसार अनित्य है, और यह अनित्य संसार दुःखमय है।

अब इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय क्या है? ठाकुर कहते हैं, "उपाय अवश्य है।" बुद्ध भी कहते हैं कि इस दुःख की निवृत्ति का उपाय है, और वह निवृत्ति का उपाय भी मनुष्य के ही हाथ में है। अब यदि कोई वह उपाय ग्रहण न करे, तो इसके लिए वह स्वयं जवाबदार है। यहाँ पर 'संसारी जीव' का यह अर्थ नहीं कि जिसने विवाह आदि करलिया हो, 'संसरति इति संसारः'--अर्थात् जो जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा हुआ चल रहा है, वहीसंसारी है। जो लोग इस चक्र से छूटने के लिए किसी भी प्रकार चेष्टा नहीं करते, वे संसारी जीव हैं। ठाकुर कहते हैं कि ऐसे संसारी जीवों के लिए भी उपाय है। और वह सब उपाय है साधु-संग, ईश्वर-चिन्तन, विचार और प्रार्थना। सबसे पहले चाहिए साधु-संग, अर्थात् ऐसे एक व्यक्ति का साथ, जो संसार के जाल में फँसा हुआ न हो। बुद्ध के जीवन में वैराग्य का

उदय ठीक इसी प्रकार हुआ था। सिद्धार्थ जब रोग, शोक, जरा, मृत्यु को देखकर विचार कर रहे थे कि इस जगत् में फिर सुख है कहाँ, तो ठीक उसी समय उनकी दृष्टि पड़ी एक सन्यासी पर, एक आनन्दमय पुरुष पर। इस आनन्द के उत्स को खोजते हुए वे इस दुःख के हाथ से निवृत्ति का उपाय पा लेते हैं; 'चतुरार्य-सत्य' का आविष्कार करते हैं। इसीलिए साधु-संग की आवश्यकता है। जो साधु हैं, उनमें आनन्द का एक अटूट प्रवाह बना रहता है। इसलिए उनके संस्पर्श में जो भी आते हैं, उनके जीवन में भी उस भाव का कुछ न कुछ संक्रमण हो ही जाता है। बुद्धदेव इतने अनभिज्ञ नहीं थे कि रोग-शोक की बात उन्होंने कभी न सुनी हो। लेकिन जब उन्होंने अपनी आँखों से यह सब देखा, तब उसकी प्रतिक्रिया दूसरे ही प्रकार की हुई। ठीक उसी प्रकार हम जानते तो हैं कि यह जीवन अनित्य है, दुःखमय है, लेकिन बीच-बीच में साधु-संग करते रहने से हमें यह बोध होता है कि हम जो परम्परागत जीवन बिता रहे हैं, उसके बाहर एक आनन्दमय जगत् है, जिसकी खोज करना ही हमारा यथार्थ में काम्य है। इसीलिए बीच-बीच में साधु-संग की आवश्यकता है। 'बीच-बीच में' इसलिए कहा कि हमारे जीवन में संसार के संस्कारों ने ऐसी जड़ें जमा ली हैं कि एक-आध बार के साधु-संग से उन जड़ों को दूर करना सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए बीच-बीच में साधु-संग करना होगा। ऐसा करते-करते मन के भीतर एक चेतना की सृष्टि होगी, नवजागरण होगा, तब हम समझ सकेंगे कि जागते हुए भी हम कितनी भयानक निद्रा में पड़े हुए हैं; और तब एक नये आनन्दमय जगत् को आँखें खोलकर देखने की हमारे भीतर एक आकांक्षा, तीव्र व्याकुलता जगेगी। ○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (५)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज़ होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं।--म०)

(गतांक से आगे)

पाठक--तो ऐसे ठाकुर हैं परमहंसदेव ! अच्छा, आपने जो कहा कि रामकृष्णदेव ही वही राम और वही कृष्ण हैं। पर इनकी तो उनके-जैसी वेशभूषा नहीं, न ही इनके अलौकिक कार्य देखने में आते हैं। फिर लोग भी ऐसा कहते नहीं; पर हाँ, यह अवश्य है कि उनकी चर्चा आजकल अनेक स्थानों पर हो रही है।

भक्त--तुमने यह बात पहले ही कही थी और अब फिर से कह रहे हो। रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में अभी भी तुम्हारा सन्देह गया नहीं। तुम उनसे प्रार्थना करो, वे तुम्हें समझा देंगे, दिखा देंगे।

मोटे तौर पर एक बात कहता हूँ सुनो--अवतारविशेष में रूपविशेष होता है, जैसे राम-अवतार में राम-रूप, कृष्ण-अवतार में कृष्ण-रूप। इस बार रामकृष्ण-अवतार में रामकृष्ण-रूप हुआ है। सब अवतारों में एक ही वेश नहीं होता और न कार्य ही एक-जैसे होते हैं। अवतार दो प्रकार के हैं। एक अवतार है--धरती का भार हरने के लिए, साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों का विनाश करने के

लिए, और दूसरे अवतार को आदर्शावतार कहते हैं। इस अवतार का कार्य है---धर्म का संस्थापन करना, जीव को शिक्षा देना तथा पतितों का उद्धार करना। आदर्शावतार में ऐश्वर्य होते हुए भी व्यक्त नहीं रहता, वेशभूषा का आडम्बर होकर भी नहीं होता, रहता है केवल माधुर्य। आदर्शावतार बिना ऐश्वर्य के ऐश्वर्ययुक्त और बिना रूप के रूपयुक्त होता है। 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' इस सम्बन्ध में जो कहती है, वह तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो--

अरे अविश्वासी मन क्या कहूँ तुझे।
चिरकाल रहा मग्न तू सन्देह-पंक में।।
विश्वास यदि हो न तुझे, मेरी हानि क्या।
प्रभु मेरे अखिलपति यह मैं जानता।।
हृदयबिहारी पथ के नेता त्राणकर्ता।
संसारसमुद्र-जल के वे मेरे पारकर्ता।।
वे हैं मेरे रत्न-मुक्ता, प्राण, बुद्धि, बल।
सखा, सम्पद्, विपद् के सहायक सम्बल।।
ऐश्वर्य देख तत्त्व का निर्णय तू करता जो।
सन्देह तेरे-जैसा मुझको कभी न हो।।
चाहे हों प्रभु के वे ब्राह्मण पुजारी।
रहे परगृह में अथवा पर-अन्न भिखारी।।
या आये हों वे निरक्षर वेश धारण कर।
उन्मत्त अशेष अथवा हों निर्गुण-निराकार।।
अथवा भले हों वे पंचभूत-देहधारी।
दीन-हीन ब्राह्मण सजे बालक आचारी।।
वस्त्र-भूषण-हीन सामान्य बन सजे।
जीर्ण-शीर्ण देह, वेदना गले में लें।।
चाहे हों वे जो भी मैं विचार ना करूँ।

मेरे हैं वे ठाकुर प्रभु उनको भजूँ पूजूँ ।।
यदि चाहो वेशभूषा, ऐश्वर्य का दर्शन ।
अंगकान्ति नवदुर्वादल करना उन्हें वरण ।
कर्ण सोहे रत्नकुण्डल और लम्बित केश ।
मुकुट जड़े रत्न-माणिक सोहे सुन्दर वेश ।
हाथी घोड़े चतुर्दिक रथ शोभायमान ।
तरकस सोहे पीठ हाथ में धनुष-बाण ।।
बायें सोहे कनकबरना सीतामाता ।
शिव-धनु-भंग द्वारा प्राप्त जनकसुता ।।
धोखा तुझे हुआ अरे मन निरैश्वर्य निरख ।
वही राम ही रामकृष्ण बन आये रूप ढँक ।।
देखना चाहो यदि तुम मोरपंख शोभित ।
सिर अरु ललाट सुन्दर अलकावलि चित्रित ।।
नाक डोले गजमुक्ता कही न जाय शोभा ।
गले सोहे कौस्तुभ मणि बिखेरे चन्द्रप्रभा ।।
बाँके दो नयन तीखे आकर्ण-पूरित ।
कान्तिमय नील देह चन्दनचर्चित ।।
मनोहारी पीत वस्त्र चमके बिजली ।
भुवनमोहन बाँसुरी निज हाथ में है ली ।।
श्री राधा के प्रेम में हो त्रिभंगस्वरूप ।
गोपी-मन मुग्ध कर नटवर श्यामरूप ।
गले डोले वनमाला आपादलम्बित ।
पीत कमरबन्द करे अंग सुशोभित ।।
परों में कनक पैंजन रुनझुन करती ।
शोभा रक्त कमल ज्यों चरणों की होती ।।
पग पग पर फूटे मानो कमलों के शत दल ।
मकरन्द गन्ध पा भौंरें आवें सदल-बल ।।

धोखा तुझे हुआ अरे मन निरैश्वर्य निरख ।
वही कृष्ण ही रामकृष्ण बन आये रूप ढँक ।।
वही राम वही कृष्ण हैं रामकृष्ण बने ।
रूप अपना बदलते लीला करने ।।
अन्तर केवल रूप का, गुणों का नहीं ।
प्रभु की महत् लीला साक्ष्य दे रही ।।
जब जिस रूप का होता प्रयोजन ।
वही सज्जा-रूप ले आते करुणाघन ।।
समभाव से वही शक्ति कार्य करती ।
ऐश्वर्य में जैसे वैसे निरैश्वर्य में भी ।।

भगवान् चाहे जो रूप धारण क्यों न करें, उनके उस रूप में ही उनके अन्य समस्त रूप भी रहते हैं। दानी-कर्ण के यहाँ वे बूढे, जर्जरित ब्राह्मण के रूप में उपस्थित हुए थे, तब क्या उनके भीतर कृष्ण-रूप नहीं था ? हनुमान् को कृष्णावतार में राम-रूप का दर्शन कराना पड़ा था। रामकृष्णदेव ने भी अनेक भक्तों को अनेक रूप दिखाये हैं। 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' में इसका विशद वर्णन है। रामकृष्ण के भक्त रामकृष्ण-रूप के सिवाय दूसरा रूप नहीं देखना चाहते। एक बार ठाकुर ने गिरीशबाबू से पूछा, "तु कुछ देखना चाहता है?" भक्त ने उत्तर दिया, तुम उसके भीतर रहोगे तो ?" प्रभु ने कहा, "मैं उसके भीतर और क्यों रहने चला ?" भक्त ने कहा, "तो फिर मैं नहीं देखना चाहता।" भगवान् के अन्य रूप को देखकर भगवान् की परीक्षा कर लेना चाहने से बढ़कर भगवान् के प्रति मन का अविश्वास और दूसरी तरह से प्रकट नहीं किया जा सकता। फिर भी रामकृष्णदेव ने संशयग्रस्त चित्तवालों का संशय दूर करने के लिए कई परीक्षाएँ दी हैं तथा कई रूप दिखाये हैं।

रामकृष्णदेव का दर्शन करने से सब अवतारों का दर्शन हो जाता है। उनको समझ लेने से जितने भी वेद-वेदान्त-पुराण आदि हैं और संसार के जितने धर्म हैं, सभी का मर्म समझा जा सकता है। रामकृष्णदेव के शरीर में समूचा जगत्-ब्रह्माण्ड——सारी सृष्टि ही अवस्थित है।

अहा! क्या अपूर्व सुन्दर, समाधिस्थ कलेवर,
चन्द्रवदन मण्डल में।
शोभा है अपरूप, लहरें किरणों की अनूप,
झिलमिल कर जब खेलें।।
देख श्रीमुख-इन्दु, अन्तर का प्रेमसिन्धु,
अन्धकार को त्याग भागता कहाँ।
जल में डूबता-उतराता अंचल दूरातिदूर का,
दोनों तटों पर जो रहे जहाँ।।
पथों पर छूटती लहरें, पता कोई न पाये रे,
विधि के विधान में है नहीं लिखा हुआ।
ईश्वर की शक्ति माया जिसका प्रभाव छाया,
लीला के मध्य जिसका है रूप ढँका हुआ।।
कहाँ है सूर्य कितनी दूर, उड़ा ले जाता नभ ऊपर,
लवण-जल बिन्दु सागर का।
चला अपनी अदृश्य वह कल, दे स्फटिक निर्मल जल,
प्यास करे दूर चातक का।।
अवनिस्थित सागर, खेले शून्य मार्ग पर,
बदलकर नाम मेघ का।
समस्या है बड़ी विषम, समझ में आये ना एकदम,
किसका कैसा है घर कहाँ।।
मूल में शक्ति है वह एक, कार्य करती रहती अनेक,
सृष्टि है करती कोटि-कोटि प्रकार।

दो ही वस्तु समान रूप, विश्व के बीच हैं अपरूप,
शक्ति की शक्ति अपरम्पार ।।
एक से मिले न अन्य, सभी हैं भिन्न-भिन्न,
रूप रंग गठन और वर्ण में ।
सब कुछ वह अविनाशी, अच्छा बुरा उसमें नहीं,
रूप गुण परिवर्तन नहीं उसमें ।।
ब्रह्मा विष्णु महेश, शक्ति-आज्ञा धरे शीश,
हो जाते लीन जिसके भीतर ।
वही शक्ति रात दिन, प्रभु की दासी प्रवीण,
लीला के खेल में प्रयुक्त कर ।।
ऐसे प्रभु विश्वपति, जिनकी लीला की गति,
है शक्ति किसमें जो करे निरूपण ।
अवनि अम्बर के साथ, दिखे मिलाते हाथ,
पर वह नहीं है उनका आयतन ।।
लीला-राज्य प्रभु का, अत्यन्त आश्चर्य-भरा,
आदि अन्तहीन आभास जिसका ।
युक्त करके अनवरत, अवतारों को समस्त,
बीच जिसके करे वास बिना भय का ।।
राजराजेश्वर रामकृष्ण, धारणा कर सभी तुष्ट,
विवाद-विद्वेष का हो भंजन ।
जहाँ अधिकार हो जिसका, तनिक न नाश हो उसका,
समभाव से हो युक्त करें सबका पालन ।।
गोकुल वेदान्त आदि, जहाँ जैसी रहे विधि,
मत पथ जो व्यक्त रहा चिरकाल से ।
हृदय से सबको लगा, समान जतन करे रक्षा,
आये प्रभु जगत् के धर्मपाल वे ।।

रामकृष्णदेव का सब कुछ अलौकिक है । उनका सारा

जीवन अलौकिकत्व से परिपूर्ण है, उसमें लौकिकता का लेशमात्र भी नहीं। उनके सम्बन्ध में अब तक तो कुछ कहा नहीं गया। जब मैं उनकी लीला का वर्णन करूँगा, तब तुम्हें दिखा जाऊँगा कि आज तक अर्थात् रामकृष्णदेव के अवतरित होने से पूर्व तक जितने अवतार हुए हैं और उन्होंने जो कुछ किया है, रामकृष्णदेव ने अकेले ही वह सब किया है। और यही नहीं, बल्कि उनकी अपेक्षा कुछ अधिक ही किया है। अभी तुम्हें रामकृष्णदेव की दो-चार उक्तियाँ मात्र सुनाता हूँ।

ये उक्तियाँ रामकृष्णदेव के महामन्त्र-वाक्य हैं। इन उक्तियों के भीतर रामकृष्णदेव ने सार्वभौम धर्म के सार-तत्त्व को रख दिया है। माघ महीने का पाला अदृश्य रूप से पड़ता है, पर उस पाले में इतनी शक्ति होती है कि वह पत्थर को भी जीर्ण कर देता है। उसी प्रकार रामकृष्णदेव की अत्यन्त सरल बातों में, सहज उपदेशों में ऐसी शक्ति निहित है कि यदि अत्यन्त पाषाणहृदय बद्धजीव भी उन्हें सुने, तो वे उसके भीतर, उसके मज्जे में, उसकी नस-नस में, उसकी हड्डियों तक में प्रवेश कर जाएँगे।

किसी विषय को, बिना अच्छी तरह विचार किये, समझा नहीं जा सकता। परमहंसदेव की महिमा आज तक भी इस देश के लोग देख नहीं पाये हैं; उसका कारण यह है कि उनको किसी ने देखा नहीं। उनकी मूर्तिमन्त ज्वलन्त महिमा के बीच स्थित हो यह कहना कि मैं महिमा को देख नहीं पाया, ठीक वैसा ही है जैसा हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर यह कहना कि मुझे ठण्ड नहीं लग रही। जिन्हें ऐसे स्थानों पर भी ठण्ड न लगे, तो उन्हें समझना चाहिए कि उनका शरीर बीमारी से ग्रस्त है।

एक दीन-दुखी ब्राह्मण के पुत्र, निरक्षर, केवट के मन्दिर के एक पुजारी ब्राह्मण ऐसी सब बातें कह गये, एक ऐसा जीवन दिखा गये कि उन बातों और उस जीवन का आभास पा आज सारे संसार के अति उन्नतिशील राष्ट्रों के बड़े-बड़े पण्डित, वैज्ञानिक, धर्मतत्त्वविद् आदि वरेण्य व्यक्तिगण मुग्ध हो रहे हैं, तथा कोई-कोई तो अत्यन्त भक्तिभाव के साथ उनके लीलास्थलों का दर्शन करने के लिए और यह जानने के लिए कि वे कहाँ रहते थे, कहाँ बैठते थे, कहाँ सोते थे तथा कहाँ कौन उनके विषय में जानते हैं, कौन उनके साथ रहते थे, सात समुद्र पार कर दीन भाव से यहाँ आ रहे हैं। रामकृष्णदेव जिस वृक्ष के नीचे बैठकर, अगणित साधनाएं कर, धर्म के समस्त गूढ़ तत्त्वों से अवगत हुए थे, उस स्थान की मिट्टी हजार-हजार लोगों ने अपने-अपने देशों में, अपने-अपने घरों में ले जाकर, काँच की अलमारियों के भीतर रखकर अपने को पवित्र अनुभव किया है। जिन देशों के लोग हिन्दुओं को वीर्यहीन मानते रहे हैं, पशु से भी निम्न समझते रहे हैं, जिन देशों के निवासी हिन्दुओं को मूर्तिपूजक धर्मावलम्बी कहकर हृदय से घृणा करते हैं तथा जिन देशों के लोगों ने बहुत समय से पादरियों को इस देश में भेजकर हिन्दुओं को आलोक की ओर ले जाने की व्यवस्था की है, आज उन-उन देशों के तत्त्व-पिपासुगण रामकृष्णदेव को जिस प्रकार भक्तिभाव से पूज रहे हैं, क्या यह एक अत्यन्त अलौकिक घटना नहीं है?

विदेशी विद्वन्मण्डली ने जब परहमहंसदेव को इस प्रकार पूज्य और आराध्य माना है, तब यह समझ लेना होगा कि उन्हें परमहंसदेव के भीतर एक नवीन आलोक परिलक्षित हुआ है। अब मैं पूछता हूँ जरा कहो तो सही

कि जिन्होंने सभी देशों की सभी जातियों को, सभी धर्मावलम्बियों को, सभी धर्मजिज्ञासुओं को समान रूप से आलोक प्रदान किया है, वे कौन हैं ? मूर्ख से मूर्ख और अन्धे से अन्धा भी यह स्वीकार करेगा कि वे जगद्‌गुरु रामकृष्णदेव ही हैं। वे ही चन्दामामा रामकृष्णदेव हैं। वे कौन-सा धर्म दिखा गये उसकी चर्चा क्षमतानुसार बाद में करूँगा। राम और कृष्ण ने जो रामकृष्ण होकर संसार को मुग्ध किया, क्या यह उनकी महिमा नहीं है ? यहाँ के लोग यदि यह न देख पाएँ, तो कहना होगा कि या तो उनके आँख-कान में कुछ खराबी है, या फिर बुद्धि ठिकाने पर नहीं है अथवा अन्य किसी कारण से उनके देखने-सुनने में कोई बाधा आ पड़ी है।

हजार-हजार लोगों की आँख, कान अथवा बुद्धि में विकार हुआ है---ऐसा कहने से लगेगा कि मैं छोटा मुँह बड़ी बात कर रहा हूँ। पर मुझे इतना तो बोलने का अधिकार है कि जो रामकृष्णदेव को देखें, वे जरा सरल प्राण, शुद्ध मन और सहज बुद्धि से उन्हें देखें। जिस बुद्धि से मनुष्य ईश्वर को गँवा बैठा है, जिस बुद्धि से परनिन्दा और परचर्चा को ही सत्य का स्वरूप समझ बैठा है, जिस बुद्धि से अपने भीतर हिंसा-द्वेष की अग्नि जलाकर और ऐसा समझकर कि वह परम शान्ति का अनुभव कर रहा है, जो गम्भीर बना बैठा है, जिस बुद्धि से झूठ, धोखाधड़ी और दुष्टता को मुक्ताहार पहनना समझ लिया है, जिस बुद्धि से काम-कांचन का गुलाम होकर अपने को समाज का गण्यमान्य व्यक्ति समझ बैठा है, जिस बुद्धि से मानवता के बदले पशुत्व से अभिषिक्त हो अपने को गौरवान्वित मान बैठा है, जिस बुद्धि से प्राण भरकर एक बार 'माँ' कहकर पुकार नहीं सकता, ऐसी

कपटतापूर्ण, अपवित्र, कुटिल, हीन बुद्धि लेकर जो सत्य की अपेक्षा भी सत्य, शुद्धातिशुद्ध, पवित्रता की अपेक्षा भी पवित्र रामकृष्णदेव को देखने जायँ, तो क्या देखेंगे? यही कि वे केवट के मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण हैं, एक ऐसे पागल हैं जो बाप द्वारा प्रताड़ित और माँ द्वारा अवहेलित, समाजच्युत, हीन, मूर्ख और आवारा लोगों के गुरु हैं तथा जो बाद में गले की बीमारी से चल बसे!

यह तो मैंने आँख-कान के विकार की बात कही। अब बाधा कैसी है, वह सुनो। गरमी की बात है, एक दिन दक्षिणेश्वर में पंचवटी की शीतल छाया में रामकृष्णदेव के पास उनके कुछ भक्त बैठे हुए हैं। नाना प्रकार की ईश्वरीय चर्चा चल रही है। बात ही बात में एँड़ेदह, दक्षिणेश्वर और वराहनगर के लोगों की बात उठी। इन लोगों का ठाकुर के प्रति जटिला-कुटिला का-सा भाव है, इसीलिए एक भक्त ने कौतूहलवश ठाकुर से कहा, "कितनी दूर, सुदूर के लोग यहाँ आकर शान्तिलाभ करके जा रहे हैं, और ये लोग नहीं आते भला क्यों?" ठाकुर ने मुँह से कुछ न कह एक गाय की ओर इशारा किया। गाय गंगा के किनारे रस्सी से बँधी हुई थी और गंगा के जल की ओर ताकती हुई छटपटा रही थी। पर गाय को देख इस बात का उत्तर कोई समझ नहीं सका। रामकृष्णदेव की कैसी लीला! ऐसे ही समय वहाँ चार-पाँच खुली हुई गायें आ पहुँची और वे गंगा के जल में उतरकर इच्छा भर पानी पी फिर ऊपर आ गयीं। तब ठाकुर ने समझाते हुए कहा—वह गाय बड़ी प्यासी है, पर बँधी हुई है, इसलिए जल के इतने समीप रहने पर भी जल नहीं पी पा रही है। और वे गायें मुक्त हैं, इसलिए प्यास लगने मात्र से आकर पानी पी गयीं। यहाँ

के लोग बद्ध हैं इसीलिए नहीं आ पाते।

ठाकुर इस सम्बन्ध में और एक बात कहते थे, "दिया-तले अँधेरा रहता है, उसका प्रकाश दूर पर पड़ता है।" इसी प्रकार महापुरुषों के निकट के लोग उन्हें देख नहीं पाते, पर जो दूर के लोग हैं वे उनके विचारों से मुग्ध होते हैं। ठाकुर एक वृक्ष की उपमा देते थे, जिसके बीज नीचे नहीं पड़ते, मीलों दूर छिटक पड़ते हैं और वहाँ वृक्ष होता है। उसी प्रकार महापुरुषों का प्रभाव दूर में पड़ता है और दूर के लोगों द्वारा वे सम्मानित होते हैं।

अन्तिम बात। जीव चार प्रकार के होते हैं––नित्य-मुक्त, मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध। नित्यमुक्त स्वभावतः माया के जाल में पड़ते ही नहीं। मुक्तजीव जाल तोड़कर भाग जाते हैं। मुमुक्षु जाल को कैसे काटे, इसकी कोशिश में रहता है, किन्तु बद्ध तो जाल में फँसा है पर भागने की जरा भी चेष्टा नहीं करता, उल्टे कीचड़ में छिपने की कोशिश करता है। बद्धजीव की पहचान यह है कि काम-कांचन के अतिरिक्त कोई दूसरी भी वस्तु है, उधर उसकी बुद्धि ही नहीं होती। पैसा कमाना, खाना-पीना, सजना-धजना और वंशवृद्धि करना इसी को बद्धजीव अपने जीवन का उद्देश्य समझता है।

जैसे भूत राम-नाम नहीं सुन सकता, वैसे ही बद्धजीव भगवत्कथा में कान नहीं देता, कहता है––यह सब सुनने से क्या होगा? बल्कि चलो जरा मौज करके आएँ। कोई दूसरा कहता है––चलो, घर का कामकाज देखें, यह सब सुनने के लिए तो बुढ़ापे का समय धरा पड़ा है। जिनकी यह बात हो रही है, वे तो बाप को भी धता बता देंगे। फिर कोई-कोई तो ऐसी बात कहते हैं, जिसे सुनकर प्रायश्चित्त करना पड़े। वे कहते हैं––"कृष्ण ने किया तो लीला हो गयी

और हम करें तो बदमाशी है!" इन सब लोगों के सामने यदि कृष्ण स्वयं मोर-मुकुट धारण कर, हाथ में वंशी और राधा को बायीं ओर ले आ खड़े हों, तो भी इन्हें विश्वास नहीं होगा, बल्कि ये कहेंगे--"हाँ जी, तुम लोग किस थियेटर के हो, बड़े बढ़िया सज-धज हो!" अवतार में विश्वास होना बड़ा कठिन है। डाक्टर सरकार तो इतने बड़े व्यक्ति थे, पर वे भी ठाकुर के सामने बोल उठे थे कि जिन्होंने छिपकर बाली को मारा, अपनी पाँच महीने की गर्भवती पत्नी को वन में निर्वासित किया, ऐसे राम को मैं भगवान् नहीं कह सकता।

और एक बाधा की बात कहता हूँ, सुनो। यहाँ के लोग बड़ा लिखना-पढ़ना जानते हैं। सभी पण्डित हैं। बहुत पढ़-लिखकर विद्या के अहंकार से हृदय भरा हुआ है। पर देखो, विद्याध्ययन करके जो निरहंकारी बनते हैं, उनका अध्ययन ही अध्ययन है और ऐसे ही विद्याध्ययन से अविद्या का कीच साफ होता है। विद्या का उद्देश्य ही यही है। विद्या महाविद्या का दर्शन कराती है। पर जहाँ पाण्डित्याभिमान पैठ जाता है, वहाँ अविद्या की पकड़ और भी सख्त हो जाती है। इस विद्या के अहंकार से उसका सर्वनाश हो रहा है, यह बात वह जानने नहीं देती। अहंकार ही ईश्वर के पथ का एकमात्र काँटा है। यह अहंकार ही मूर्तिमन्त अविद्या है।

अहंकार भी कई प्रकार का होता है। केवल सरस्वती की कृपा से अहंकार होता हो ऐसी बात नहीं, लक्ष्मी की कृपा से भी खूब होता है। और जहाँ दोनों बहनें एक साथ हों, वहाँ तो फिर कहना ही क्या? अहंकार मान का होता है, कुल का होता है। अविद्या ने अलग-अलग दिशाओं में अलग-अलग रंग की डोरी फैला रखी है और जिसे जैसा पाती है, उसे वैसा ही बाँधकर अपने वश में किये रखती है। (क्रमशः)

मानस-रोग : भूमिका (१/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विगत चार वर्षों से विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। उन्होंने इस विषय पर अपना पहला प्रवचन २२-१-१९८० को दिया था। प्रस्तुत लेख उसी का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।——स०)

रामायण में आपको एक ओर बुरे पात्र मिलेंगे, जिनका वर्णन राक्षसों के रूप में किया गया है। वे हैं——रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण, त्रिशिरा तथा लंका के अन्य राक्षसगण। और दूसरी ओर है अच्छे पात्रों का वर्णन। पर जिन अच्छे पात्रों का वर्णन किया गया है, उनके जीवन में भी कभी-कभी समस्याएँ दिखायी दे जाती हैं। जैसे, नारदजी के चरित्र का वर्णन तो बड़ा उत्कृष्ट है, फिर भी उनके जीवन में काम का उदय हो गया। परशुराम तो भगवान् के आवेशावतार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, पर उनमें क्रोध का आधिक्य दिखायी देता है। जिन कुछ पात्रों की श्रेष्ठता 'मानस' में वर्णित हुई है, उनमें से किसी में लोभ की मात्रा विशेष रूप में दिखती है, तो किसी में मोह और अभिमान दिखायी देता है। फिर किसी किसी में संशय दीख पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो ईश्वर के निकटस्थ हैं अथवा जो ईश्वर को पा लेते हैं, उनके जीवन में भी क्या ये समस्याएँ आ सकती हैं? और यदि हाँ, तो कारण क्या है? फिर यह भी पूछना स्वाभाविक है कि इन समस्याओं को मिटाने का उपाय क्या है? यदि मेघनाद के समान ही नारद भी काम से

पीड़ित होते हों, तो पूछा जा सकता है कि फिर दोनों में क्या अन्तर हुआ ? आपके सामने कई वर्षों से कथा-प्रसंग चलता आ रहा है, आपने उसमें कई बार देवताओं की दुर्बलता का वर्णन सुना होगा। अब प्रश्न उठता है कि देवताओं में भी यदि वही दुर्बलता है जो राक्षसों के जीवन में है, तब हम उन्हें देवता क्यों कहें और उन्हें भी राक्षसों की श्रेणी में क्यों न गिनें ? 'रामचरितमानस' के पाठकों के हृदय को ये प्रश्न कभी-कभी उद्वेलित कर दिया करते हैं। इनका समाधान भी हमें वहीं संकेत के रूप में प्राप्त होता है, जहाँ दो सिद्धान्तों की बात बतायी गयी है। एक तो है कर्म का सिद्धान्त, जिसकी मान्यता है कि ईश्वर न्याय-परायण है और वह जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है--

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। २/२१८/४

यह कर्मसिद्धान्त न्याय पर बल देता है। दूसरा है भक्ति का सिद्धान्त, जो कृपा पर बल देता है। तो, हम ईश्वर को न्यायाधीश मानें या कृपालु ? गोस्वामीजी इन दोनों का समन्वय कर देते हैं। वे कहते हैं कि समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं--एक तो होते हैं अपराधी और दूसरे, रोगी। अपराधी के प्रति हमारे मन में रोष उत्पन्न होता है और उसे दण्ड दिया जाता है, पर रोगी हमारी सहानुभूति आकर्षित करता है। अपराधी के लिए न्याय की व्यवस्था की जाती है, जबकि रोगी के लिए उपचार की।

प्रसंग आता है कि जब विभीषण भगवान् राम की शरण में आये, तो सुग्रीव ने जाकर प्रभु को सूचना दी—

'आवा मिलन दसानन भाई' (५/४२/४)। प्रभु बोले कि जब कोई मिलने आया हुआ है तो उसमें पूछने की क्या बात है ? इस पर सुग्रीव ने कहा—–बात यह है कि रावण का भाई, शत्रु का भाई वेश बदलकर आया हुआ है। मुझे तो लगता है कि वह भेदिया बनकर हमारा भेद लेना चाहता है। और आप हैं कि कह रहे हैं—–आया है तो आने दो ! हम उसे यों ही कैसे आने दे सकते हैं ?

"तब तुम्हारा क्या मत है ?"—–प्रभु ने पूछा।

सुग्रीव बोले—–'राखिअ बाँधि मोहि अस भावा' (५/४२/७)—–मुझे तो लगता है कि उसे बाँधकर रख लिया जाय।

यह सुन भगवान् राघवेन्द्र हनुमान्‌जी की ओर देखते हैं। 'गीतावली रामायण' में आता है कि प्रभु ने हनुमान्‌जी की ओर केवल देखा ही नहीं, बल्कि जोर-जोर से हँसने भी लगे। सुग्रीव नहीं समझ पाये कि प्रभु किसलिए हँस रहे हैं, पर हनुमान्‌जी समझ गये। भगवान् श्री राम के हँसने का एक कारण था। जैसे आपने किसी को भोजन के लिए निमंत्रित किया। वह तो आपके घर पहुँच गया, पर आपने घर में नहीं बताया था कि आपने भोजन पर किसी को निमंत्रित किया है, इसलिए किसी ने उसका स्वागत नहीं किया, उल्टे उसे यह कहकर भगाने लगे कि आ गये कहाँ से ये भोजन-भट्ट ! ऐसी दशा में निमंत्रण देनेवाले के लिए इससे बढ़कर लज्जा की बात और कोई हो नहीं सकती। तो, यहाँ पर प्रभु हनुमान्‌जी की ओर देखकर जो हँस रहे थे, वह यही संकेत करने के लिए कि हनुमान्, तुम तो लंका में जाकर विभीषण को शरणागति का निमंत्रण दे आये, और यहाँ तुम चुप्पी साधे हुए हो, जब देख ही रहे हो कि

सुग्रीव उन्हें बाँधने की तैयारी कर रहे हैं! सुग्रीव को प्रतीत हो रहा है कि यह विभीषण बुरा है और मुझे लगता है कि--

सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषन
बूझि परत अनुमान सों। (गीतावली, सु०का०, ३३)

--वह सज्जन, सरल और सत्पुरुष है। पर, हनुमान! हम दोनों अनुमान ही तो कर रहे हैं--जैसे सुग्रीव, वैसे ही मैं भी। पर तुम्हारे पास तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, तुम लंका में होकर आये हो। अतः हम तुम्हीं से पूछना चाहते हैं कि विभीषण कैसा है।

प्रभु ने आशा की थी कि हनुमान्‌जी कहेंगे--सचमच आप सही कहते हैं, ये विभीषण बड़े सज्जन, शिष्ट और सरल हैं; किन्तु हनुमान् ने वह नहीं कहा। वे तो प्रभु के चरणों को पकड़ लेते हैं और कहते हैं--"मैं यह नहीं कहूँगा कि ये कैसे हैं, मैं कोई दावा नहीं करूँगा कि ये सज्जन हैं, सुहृद् हैं या भक्त हैं!"

"तो तुम कहना क्या चाहते हो, हनुमान्?"--प्रभु ने पूछा।

"प्रभु! आपने जो यह प्रश्न किया, मुझे तो वही उपयुक्त नहीं प्रतीत हो रहा है।"

"क्यों, इसमें अनुपयुक्तता क्या है?"

"देखिए महाराज, आपको सूचना दी गयी है कि विभीषण शरण में आये हुए हैं। अब आप ही बताइए कि शरणागति कोई न्यायालय है या औषधालय? यदि न्याया-लय हो तो न्याय करने बैठिए कि विभीषण कितना बुरा है। पर यदि वह औषधालय हो, तब तो उसे सहानुभूति दीजिए। क्या औषधालय में पूछा जाता है कि तुम रोगी

हो या अच्छे हो ? यदि रोगी से वैद्य पूछ दे कि तुम स्वस्थ हो या नहीं, तो रोगी वैद्य का मुँह देखने लगेगा——मानो उलाहना देगा कि यदि मैं स्वस्थ होता तो आपके यहाँ आता ही क्यों ? मैं आया ही इसीलिए कि मैं रोगी हूँ !"

हनुमान्‌जी का तात्पर्य यह है कि जो शरणागत हो रहा है, वह अपनी कमी, अपनी असमर्थता को स्वीकार कर रहा है। वह अपने रोग को जानता है और यह भी कि रोग को दूर करना उसके बस की बात नहीं है, इसीलिए वह वैद्य के पास जाता है और प्रार्थना करता है कि मेरे रोग को दूर कर दीजिए। अतएव यह वैद्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह रोगी को सहानुभूति दे और उसके रोग को दूर करने की चेष्टा करे।

सुग्रीव के मुँह से निकल गया था——'भेद हमार लेन सठ आवा' (५/४२/७)। उसका संकेत करके हनुमान्‌जी कहते हैं——"महाराज, हमारे प्रधानमंत्रीजी तो कह रहे हैं कि यह शठ है, दुष्ट है, आपका भेद लेने के लिए आया हुआ है। यदि ऐसा है, तब तो महाराज, बहुत बढ़िया बात हुई। यदि यह आपका भेद लेने आया है और शठ है, तब तो उसको आपका भेद मिलेगा ही नहीं। और यदि उसने आपका भेद ले लिया, तब शठ नहीं रह जायगा। तो, किसी भी दशा में विभीषण को आपसे मिला देना ही उचित है। पर मेरा तो ऐसा मत है, प्रभो, कि विभीषण अस्वस्थ हैं और वे आपके पास अपनी चिकित्सा कराने आये हैं। वे यह भेद लेने आये हैं कि आप उनके असाध्य रोग को दूर कर सकते हैं या नहीं। महाराज, यह तो आपके करुणा के औषधालय की परीक्षा है कि वह विभीषण के मानस-रोग का उपचार कर सकता है या नहीं।"

हनुमानजी का तर्क सुनकर भगवान् राम प्रसन्न हो जाते हैं और विभीषण को अपनी शरण में ले लेते हैं। इसके पीछे निहित तत्त्व यह है कि समाज में दो प्रकार के व्यक्ति दिखायी देते हैं। एक को हम राक्षसी प्रवृत्तिवाले कह सकते हैं और दूसरे को रोगी प्रकृतिवाले। राक्षस के प्रति न्याय की प्रधानता हो और रोगी के प्रति करुणा की प्रधानता। इसी को 'मानस' में कर्मसिद्धान्त और भक्ति-सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है और वहाँ दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

जैसे, आपके सामने दो पात्रों का दृष्टान्त रखें। एक है ताड़का और दूसरी है अहल्या। दोनों पात्रों में एक-एक कमी है—एक में भारी क्रोध है, तो दूसरे में काम। विश्वामित्र मुनि के द्वारा एक का परिचय राक्षसी के रूप में दिया गया, तो दूसरे का एक शिला के रूप में। विश्वामित्र के साथ होनेवाली भगवान् राम की यात्रा में ताड़का पहले आती है। फिर जब मुनि का यज्ञ सम्पन्न हो जाता है और वे लोग जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं, तब मार्ग में अहल्या मिलती है। ताड़का के मिलने पर मुनि भगवान् राम से उसका वध करने को कहते हैं—

चले जात मुनि दीन्हि देखाई।
मुनि ताड़का क्रोध करि धाई।।
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।। १।२०८।५-६

इस प्रकार ताड़का को मृत्युदण्ड मिला। वह राक्षसी थी, दूसरों को खाती थी, इसलिए भगवान् राम ने कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उसे दण्डित किया। मुझे विश्वास है कि मूल सूत्र आपके ध्यान में आ गया होगा। यहाँ पर

श्री राम मुनि के यज्ञ की रक्षा करने के लिए जा रहे हैं। यज्ञ की भूमिका कर्मप्रधान होती है, अतएव यहाँ पर वे कर्मसिद्धान्त का पालन कर राक्षसों के लिए उचित दण्ड का--प्रहार, विनाश और न्याय का--विधान करते हैं। समाज में अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए, जिससे लोगों के मन में अपराध करने की वृत्ति न जागृत हो। पर जब वे जनकपुर की ओर गमन करते हैं, तब उनकी भूमिका बदल जाती है। जनकपुर भगवती सीता का--साक्षात् भक्ति का नगर है। मार्ग में एक जनशून्य आश्रम दिखायी देता है; जहाँ पशु-पक्षी भी नहीं दिखते। वहाँ एक शिला दिखायी पड़ती है, जिसकी आकृति तो नारी की है, पर जिसमें कोई चेतना नहीं प्रतीत होती। ताड़का अत्यन्त क्रोधी थी, और अहल्या के चरित्र में काम था। वैसे तो काम और क्रोध दोनों को ही प्रबल दोष बताया गया है, और इनके साथ लोभ को भी वैसा ही प्रबल दोष माना गया है। गोस्वामीजी लिखते हैं--

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन
करहिं निमिष महुँ छोभ॥ ३।३८(क)

अब यदि ताड़का पर क्रोध के कारण प्रहार किया गया, तो अहल्या पर भी काम के कारण प्रहार करना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हुआ। जब भगवान् राम ने पूछा कि गुरुदेव, क्या आज्ञा है, तो मुनि बोले--

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥ १।२१०

--इसे अपने चरणों की धूल देकर चैतन्य बनाओ। तो, यह जो विश्वामित्र ताड़का और अहल्या में भेद करते

हैं, उसका कारण यह है कि ताड़का राक्षसी है, जबकि अहल्या, रोगी। यही अन्तर दैत्यों और देवताओं में है। दैत्य या राक्षस वह है, जिसके जीवन में दोष और पाप के प्रति रंच मात्र घृणा नहीं होती तथा जो बड़े उत्साह और अभिमान पूर्वक पाप करता है। उसे पाप करते तनिक भी संकोच या लज्जा का अनुभव नहीं होता, बल्कि वह गर्व से अपने किये पाप का वर्णन बिना किसी हिचक के दूसरों के सामने करता है। फिर ऐसे भी लोग होते हैं, जो बुराई से बचना चाहते हैं। ये लोग बुराई को बुराई ही समझते हैं, फिर भी छोड़ नहीं पाते। ऐसे लोगों के लिए 'गीता' में कहा गया है—'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव, नियोजित:' (३।३६) ——वे बुरा करने की इच्छा नहीं करते, फिर भी कोई मानो बलपूर्वक उन्हें बुराई के रास्ते पर ढकेल देता है। ये लोग रोगी की श्रेणी में आते हैं। जैसे रोग कुपथ्य के कारण जन्म लेता है; व्यक्ति यदि कुपथ्य न करे, तो उस पर रोग का आक्रमण नहीं होगा। अब कोई व्यक्ति कुपथ्य करके रोगी बन जाय, तो उसके लिए उसे दण्ड नहीं दिया जाता, बल्कि उसकी दवा देकर चिकित्सा की जाती है। ठीक वैसे ही ये देवता भी रोगी हैं। ये अपनी कमियों को समझते हैं। वे जानते हैं कि यह बुराई है और यह भलाई। वे बुराई को भलाई या भलाई को बुराई नहीं कहते। पर वे अपने मन की दुर्बलता के कारण पाप कर बैठते हैं और उसका उन्हें पश्चात्ताप भी होता है।

उदाहरण के लिए रावण और इन्द्र को ले लें। रावण साधु का वेश बनाकर सीताजी का हरण करता है और

इन्द्र भी साधु का, गौतम का वेश बनाकर अहल्या का पातिव्रत्य हर लेता है। दोनों के कार्य तो एक ही श्रेणी के हैं, पर रावण को हम राक्षस कहते हैं और इन्द्र को देवता। क्यों? दोनों के चरित्र में क्या पार्थक्य है?——यह कि रावण सीताजी का हरण कर किसी प्रकार की ग्लानि और लज्जा का अनुभव नहीं करता, वह अपने कार्य को अनुचित नहीं मानता, जबकि इन्द्र महर्षि गौतम को देखकर लज्जा और भय से आतंकित हो जाता है। रावण है, जो अपने अनुचित कार्य का भी समर्थन कराना चाहता है। विभीषण ने उसे समझाने की चेष्टा की, तो उन्हीं को लात मारकर निकाल देता है। माल्यवान् के समझाने पर उन्हें सभा से निकल जाने के लिए कहता है। और इन्द्र के चरित्र का पक्ष यह है कि दुर्बलता के किसी क्षण में वह वासना के कारण कोई भूल कर बैठता है, पर वह भूल उसे कचोटती रहती है, वह तर्क करके अपनी भूल को उड़ा देने की चेष्टा नहीं करता। जब वह सामने गौतम ऋषि को देखता है, तो काँपते हुए उनके चरणों पर गिर जाता है। वर्णन आता है कि ऋषि उसे श्राप देते हैं। इन्द्र चाहता तो ऋषि का सिर काट ले सकता था या अपने वज्र से उन्हें नष्ट कर दे सकता था, पर वह ऐसा नहीं करता और महर्षि के श्राप को अपने सिर पर धारण करता है तथा भविष्य में अपने दोष के परिमार्जन की चेष्टा करता है।

तो, हममें से बहुत से लोग राक्षस की भाँति होते हैं। वे बुराई से प्रेम करते हैं। उनके जीवन में बुराई को मिटाने का न तो कोई संकल्प होता है, न प्रयास।

अतएव वे दण्ड के ही भागी हो सकते हैं। परन्तु हममें से जो लोग अपने जीवन से बुराई को मिटा देना चाहते हैं, वे यदि नहीं मिटा पाते, तो इसका कारण क्या है और इस बुराई को मिटाने की सही पद्धति क्या है-- इसी का संकेत 'रामचरितमानस' में दिया गया है। वहाँ यही बताया गया है कि यदि दुर्गुण-दुर्विचार हमारे जीवन में राक्षसों की तरह हैं, तो हमें दण्ड का भागी बनना पड़ेगा और यदि रोग की तरह हैं, तो उनकी चिकित्सा की जाएगी। तभी तो भगवान् राम हनुमान् की बात स्वीकार कर कहते हैं कि तुम बिल्कुल ठीक कहते हो, औषधालय में यदि कोई व्यक्ति आए तो उसकी चिकित्सा की जानी चाहिए और उसके रोग को दूर किया जाना चाहिए। 'गीता' में भी भगवान् यही बात कहते हैं। वे अर्जुन को सान्त्वना की वाणी सुनाते हुए कह रहे हैं--

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति ।। ९।३०-३१

--'अर्जुन, यदि कोई व्यक्ति अतिशय दुराचारी होता हुआ भी अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि उसने मेरी ओर ही आने का निश्चय कर लिया है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति पा लेता है। तू निश्चय-पूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान् के इस कथन का तात्पर्य क्या? जैसे भया-नक रोगों से ग्रस्त एक रोगी है। वह यदि कुपथ्य की

दिशा में जाएगा, तो मानो अपनी मृत्यु को ही निमंत्रित करेगा। पर यदि वह वैद्य की दिशा में जाएगा, तो अपने रोगों को दूर करने में समर्थ होगा। तभी तो भगवान् राम भी शरणागति की व्याख्या औषधालय के सिद्धान्त के रूप में करते हैं और कहते हैं—

जौं नर होइ चराचर द्रोही (५।४७।२)

—कोई व्यक्ति कितना भी बुरा क्यों न हो, पर यदि वह—

आवै सभय सरन तकि मोही (५।४७।२)

—डरा हुआ होकर मेरी शरण आता है और—

तजि मद मोह कपट छल नाना (५।४७।३)

—मद, मोह तथा नाना प्रकार के कपट-छल त्याग देता है, तो—

करउँ सद्य तेहि साधु समाना (५।४७।३)

—मैं उसे बहुत शीघ्र साधु के समान कर देता हूँ।

यहाँ पर भगवान् राम शरणागति के लिए कुछ आवश्यक गुण जोड़ देते हैं। एक तो है 'सभय'। यह सभय और निर्भय वाली बात बड़े महत्त्व की है। आजकल निर्भयता की बात कही जाती है और निर्भयता की बात मैं भी कहता हूँ, पर यह ध्यान रखें कि निर्भयता ही महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। भगवान् यहाँ पर एक अनोखा सूत्र देते हैं—'डरा हुआ'। लोग आक्षेप करते हैं कि भक्तों ने समाज को भगोड़ा—पलायनवादी बना दिया। पलायन-वादी वह है, जो भाग खड़ा होता है। लोग कहते हैं कि भय और पलायन की वृत्ति बड़ी घातक है, पर मैं कहूँगा कि यह पूरा सच नहीं है। आप 'रामचरितमानस' देखें, वहाँ आपको एक ऐसा पात्र मिलेगा, जो पक्का भयग्रस्त और पलायनवादी दोनों है। वह है सुग्रीव।

यदि आप उनके चरित्र को पढ़ें, तो उनके समान भगोड़ा, भयग्रस्त और पलायनवादी पात्र आपको दूसरा न मिलेगा। उनके जीवन में भागने की ही पराकाष्ठा दिखायी देती है। वे भगवान् राम को आत्म-कथा सुनाने लगे कि कैसे मायावी ने आकर वालि को चुनौती दी, तो वालि उसके पीछे दौड़ा। प्रभु ने पूछा—"तब तुमने क्या किया ?" वे बोले—"मैं भी वालि के पीछे पीछे गया।"

"तब तो तुम भी मायावी से लड़े होगे ?"

"नहीं, महाराज ! मैंने लड़ाई में भाग नहीं लिया। मायावी भागकर गुफा में पैठ गया। वालि ने मुझसे कहा कि तुम बाहर खड़े रहकर मेरी प्रतीक्षा करना, मैं मायावी को मारकर पन्द्रह दिन में लौट आऊँगा। यदि मैं उतने दिनों में न आऊँ तो जान लेना कि मैं मारा गया। पर मैं तो, महाराज, पन्द्रह दिन के स्थान पर पूरा एक महीना वहाँ रुका रहा, पर वालि न आया। किन्तु रुधिर की धारा गुफा में से बहकर निकलने लगी।"

प्रभु पूछ सकते थे कि जब तुमने रक्त की धार निकलते देखी, तब तो तुम्हारे मन में ऐसा आया होगा कि कहीं मेरा भाई न पिट रहा हो, चलो मैं भी गुफा में घुसकर मायावी से बदला लूँ ? पर सुग्रीव ने उन्हें पूछने का अवसर ही नहीं दिया। अपना संस्मरण सुनाते हुए आगे कहने लगे—

मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।
निसरी रुधिर धार तहँ भारी ॥

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई ।
सिला देइ तहँ चलेउँ पराई ।। ४।५।७-८

——मुझे डर लगा कि बालि को मारकर अब मायावी कहीं मुझे न मारे इसलिए मैंने गुफा के द्वार पर एक पर्वत का टुकड़ा रख दिया और वहाँ से भाग खड़ा हुआ । तत्पश्चात्——

बाली ताहि मारि गृह आवा ।
देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा ।।
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी ।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी ।। ४।५।१०-११

——जब बालि लौटकर घर आया और मुझे सिंहासन पर बैठे देखा, तो उसने मुझे शत्रु के समान बहुत मारा और मेरा सब कुछ, यहाँ तक कि पत्नी को भी, छीन लिया ।

"फिर तुमने क्या किया ?"——प्रभु ने पूछा ।

सुग्रीव बोले——

ताकें भय रघुबीर कृपाला ।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ।। ४।५।१२

——हे कृपालु रघुवीर, मैं उसके भय से समस्त लोकों में बेहाल होकर भागता रहा ।

यह सुग्रीव का भगोड़ापन है । उनके इस भागने की पराकाष्ठा तो तब होती है, जब वे भगवान् राम और लक्ष्मण को आते देखकर हनुमान्‌जी से कहते हैं कि तुम जाकर पता लगाओ कि ये कौन हैं । यदि ये बालि के भेजे हुए हों, तो वहीं नीचे से ही संकेत कर देना, जिससे मैं तुरन्त ही इस पर्वत को छोड़कर भाग जाऊँगा——

पठए बालि होहिं मन मैला ।
भागौं तुरत तजौं यह सैला ।। ४।०।५

तो, गोस्वामीजी यह चित्रित करते हैं कि सुग्रीव एक ऐसा पात्र है, जो हरदम भयभीत होकर भागता रहता है । दूसरी ओर है बालि, जिसके जीवन में बिलकुल उल्टी बात है । वह कभी भागता नहीं । उसके समान योद्धा और निर्भय पात्र 'रामचरितमानस' में दूसरा नहीं है । जिसने चुनौती देकर रावण को हराया और उसे बगल में दबाकर घूमता रहा, जिसने दुन्दुभि राक्षस को पराजित किया, मायावी राक्षस का वध किया, उस बालि की बराबरी भला और कौन कर सकता है ? हम पढ़ते हैं कि मायावी ने रात्रि के समय बालि को ललकारा था । उसने सोचा था कि रात को चुनौती देने पर बालि बाहर नहीं आएगा और इस प्रकार मैं सबको बता दूँगा कि मेरे डर के मारे बालि सामने नहीं आया । पर बालि उसका गणित विफल कर देता है और मायावी के गुफा में घुसने पर वह भी उसमें प्रविष्ट हो मायावी तथा उसके साथियों को मार डालता है । तो, एक ओर ऐसा निर्भीक पात्र बालि और दूसरी ओर भय से सतत भागनेवाला सुग्रीव ! गोस्वामीजी लिखते हैं कि भगवान् राम ने सुग्रीव से बालि को चुनौती देने के लिए कहा । पहले तो सुग्रीव तैयार नहीं हुआ, पर श्री राम की प्रेरणा पर वह किसी प्रकार राजी हुआ और जाकर बालि को चुनौती देता हुआ गर्जन करने लगा । यह सुनकर बालि बाहर आया और आते ही उसने सुग्रीव को एक घूँसा मारा । घूँसे की चोट सुग्रीव को वज्र के समान लगी और वह व्याकुल होकर भाग

खड़ा हुआ--

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा ।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा ।। ४।७।३

गोस्वामीजी यहाँ पर एक बड़ा मनोवैज्ञानिक संकेत करते हैं। बालि तो निडर था, उसने जाने कितने राक्षसों को पराजित किया था अर्थात् कितने दुर्गुणों-दुर्विचारों को जीत लिया था। पर ऐसे बालि पर भी भगवान् श्री राघवेन्द्र बाण से प्रहार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यदि इसे तर्क की दृष्टि से समझने की चेष्टा की जाय, तो बात बड़ी अटपटी मालूम होती है। बालि पर बाण चलाकर श्री राम उसके सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वह राम को उलाहना देते हुए कहता है कि तुम्हें राजनीति नहीं आती। यदि सीता को पाने के लिए तुम्हें मित्र की आवश्यकता थी, तो तुम मुझे मित्र बनाते। मैं रावण का विजेता हूँ। या तो रावण डरकर सीता को लौटा देता या फिर मैं उससे लड़कर, उसे हराकर, सीता को छुड़ा लाता। तुम राजनीति के कच्चे खिलाड़ी हो। जो तुम्हारी पत्नी वापस दिला सकता था, उससे तो तुमने मित्रता की नहीं और जो स्वयं अपनी पत्नी को न बचा पाया, उसे तुमने मित्र बनाया !

बालि का यह तर्क ऊपर से तो बिलकुल संगत लगता है, पर भगवान् श्री राम की दृष्टि भिन्न है। उसमें एक आध्यात्मिक संकेत है। सीताजी कौन हैं, जिनका पता लगाना है ? गोस्वामीजी लिखते हैं--

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २।३२१

——सीता साक्षात् भक्ति हैं। ये भक्तिदेवी खो गयी हैं। वे किसको मिलेंगी?——सभय को या निर्भय को? भक्ति की खोज में सहायक सुग्रीव बनेगा या बालि? जरा इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कीजिए तो इसमें आपको रामायण का एक नया दृष्टिकोण मिलेगा। खोयी हुई भक्तिदेवी को खोजते हुए भगवान् राम शबरी के आश्रम में जाते हैं। शबरी के जीवन में नवधा भक्ति भरी हुई है। वे शबरी से सीताजी का पता पूछते हैं। उत्तर में शबरी कहती है——

पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥ ३।३५।११

——आप पम्पासर जाइए, वहाँ आपकी सुग्रीव से मित्रता होगी। वह यह भी तो कह सकती थी कि बालि से मित्रता कीजिए। पर शबरी यह नहीं कहती। इसका तात्त्विक तात्पर्य यह है कि यदि हमारी निर्भयता, हमारा सद्गुण हमें ईश्वर से विमुख बना दे, अभिमानी बना दे, तो उसका परिणाम यह होगा कि हम भक्ति को पाने में समर्थ नहीं होंगे। बालि निर्भीक तो था और सद्गुणों से भी सम्पन्न था, पर वह अभिमानी था, ईश्वरविमख था। अपनी पत्नी से यह सुनकर भी कि सुग्रीव के पीछे भगवान् राम का बल है, वह ध्यान नहीं देता। यह ईश्वर के प्रति उसकी उपेक्षा-बुद्धि को दर्शाता है। इसीलिए शबरी भी सुग्रीव से मित्रता करने की बात कहती है।

सुग्रीव में यह जो भय की वृत्ति है, उसका बड़ा सार्थक विकास दिखलाया गया है। पहली बार वह मायावी से डरकर भागा था, तो घर की ओर भागा था। दूसरी बार बालि से प्रहार खाकर जब वह भागा, तो संसार की

ओर भागा था। भगवान् राम ने उससे एक प्रश्न पूछ दिया, "अच्छा, तुम कहते हो कि तुम बालि के डर के मारे भागे हो। पर जिस पर्वत पर तुम रह रहे हो, वह तो किष्किन्धा के बिलकुल समीप है, फिर यहाँ कैसे रह लेते हो?" सुग्रीव ने कहा, "महाराज, मैंने यह पता लगा लिया है कि बालि शाप के डर से यहाँ नहीं आता है—'इहाँ साप बस आवत नाहीं' (४।५।१३)।" तो, सुग्रीव पहले घर की ओर भागा, फिर घर से संसार की ओर और फिर संसार में भागते भागते ऋष्यमूक पर्वत पर आ गया। ऋष्यमूक पर्वत को सत्संग का केन्द्र बताया गया है, जहाँ पर बालि प्रवेश नहीं कर सकता। सुग्रीव से उसके भागने की कथा सुनकर भगवान् राम प्रसन्न हो गये। वे सोचने लगे कि भले ही सुग्रीव भगोड़ा है, पर चतुर है। वह जानता है कि उसे भागकर कहाँ जाना चाहिए। जब हम भयभीत होकर घर या संसार की ओर भागते हैं, तो हमारा भय हमें अधिकाधिक पतन की ओर ले जाता है, पर जब हम अपनी कमियों, अपनी दुर्बलताओं से भयभीत होकर सन्तों की शरण में जाते हैं, तो हमारा भय भी सार्थक हो जाता है। प्रभु ने सोचा कि सुग्रीव जब ऐसे स्थान का पता लगा लेता है, जहाँ बालि नहीं जा सकता, तब अवश्य वह सीताजी का भी पता लगा सकेगा। फिर, सत्सग के भी बाद जो अन्त में सुग्रीव का भागना है, वही सबसे बढ़िया भागना है और यही रामायण का अन्तिम दर्शन है।

जब भगवान् राम ने सुग्रीव को बालि से लड़ने के लिए भेजा और बालि ने उस पर मुक्का मारा, तब भी

सुग्रीव भागता है, पर तब वह घर या संसार अथवा ऋष्यमूक पर्वत की ओर नहीं भागता, उससे उसका भागना अधूरा हो जाता। वह तो तब भगवान् राम की ओर भागता है और उनके पास आकर अपना भय उनके चरणों में निवेदित कर देता है। कहता है कि मुझ स्वयं में इतनी क्षमता नहीं है कि मैं बालि को हरा सकूँ, लेकिन मुझे आपके बल का भरोसा है, आपने कहा था कि आप बालि का वध करेंगे, इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ। तो, सबसे अन्त में ईश्वर की ओर भागना--इसी में भय की सार्थकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो निर्भय हैं, वे भयभीत बनें। बताने का मतलब यह है कि जो भय की वृत्ति है, उसे हम सही दिशा देने की चेष्टा करें।

इस प्रसंग से एक बात सीखने की और है। यदि आप बुराइयों से लड़ सकते हैं, तो अवश्य लड़ें और उन्हें हराएँ, पर बालि की तरह नहीं। बालि भी बुराइयों को हराता है, पर वह उन्हें खत्म नहीं करता, बल्कि बचा लेता है। जैसे, उसने रावण को हरा तो दिया, पर उसे मारा नहीं अपितु अपनी बगल में छः महीने तक दबाये रखा। इसका तात्पर्य आप समझ ही गये होंगे। छः महीने तक रावण के खाने-पीने की चिन्ता भी बालि को ही करनी पड़ी होगी कि रावण कहीं मरने न पाए। मतलब यह कि पुण्य ने पाप को हराने के बाद भी पाप को जीवित बनाये रखने की चिन्ता की। और उस चिन्ता के पीछे मनोभाव यह था कि बालि को डर सताता था कि यदि मैं किसी को बताऊँगा कि मैंने रावण को हरा

दिया है तो लोग शायद सन्देह करें, मेरी बात का विश्वास न करें, इसीलिए वह रावण को बगल में दबाये घूमता रहा, मानो अपनी जीत का प्रमाण-पत्र दबाये घूम रहा हो ! जैसे लोग प्रमाण-पत्र के खो जाने के डर से उसे पेटी में सुरक्षित रखते हैं, वैसे ही बालि भी रावण को बगल में दबाकर सुरक्षित रखना चाहता है। यह प्रदर्शन-प्रिय पुण्य है, यह मानो अपने पुण्य के दिखावे के लिए पाप को जीवित रखना है।

बालि पुण्य की इसी प्रदर्शन-वृत्ति से ग्रस्त है। बालि ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं जा पाता, क्योंकि उसे ऋषियों का शाप मिला है। कथा आती है कि एक राक्षस बालि से लड़ने आया। बालि ने उस पर जब वार किया, तो वह मर ही गया। बालि ने सोचा कि इस राक्षस के मारने का यश तो मुझे मिलना चाहिए। पर वह तो मर ही गया, तब यश मिले कैसे? उसने राक्षस के शव को उठाकर ऋष्यमूक पर्वत पर फेंक दिया, जिससे वह ऋषियों के आश्रम में गिरे और लोग जानें तो कि उसका वध बालि ने किया है। यह दम्भ और दिखाने की वृत्ति बालि के जीवन से कभी गयी नहीं। मनोभाव यह है कि मैंने मार तो दिया, पर अगर किसी ने देखा नहीं तो मारने का क्या लाभ? लोग देखें तो सही कि हमने क्या किया है। यही दिखावे की वृत्ति है, जो बालि को कभी छोड़ती नहीं। तो, जब उसने दैत्य का शव फेंका, वह टुकड़े टुकड़े होकर ऋषियों के आश्रम में गिरा। आश्रम अपवित्र हो गया और ऋषिगण बिगड़-कर कह उठे--जिस मूर्ख ने इस दैत्य को मारा है, उसे वरदान नहीं, शाप मिलेगा। यह बालि के जीवन की

कैसी विडम्बना है ! कहाँ तो उसे राक्षस को मारने के कारण वरदान मिलना था और कहाँ अपने दम्भ में फँसकर वह शाप का भागी बनता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब हमारा पुण्य प्रदर्शन के लिए होता है, जब हम अपने दम्भ से परिचालित होकर केवल लोकसम्मान पाने की दृष्टि से पाप को पराजित करते हैं, तो फल यह होता है कि हमारे जीवन के सद्गुण भक्ति की प्राप्ति में सहायक नहीं बनते । पर सुग्रीव-जैसा व्यक्ति, जो अपनी कमी को समझता है और यह जानकर कि हम अपनी कमी को दूर नहीं कर सकते, ईश्वर की ओर उसे मोड़ देता है, वह अन्ततोगत्वा भक्ति को पाने में समर्थ होता है । सुग्रीव के जीवन का भय ईश्वर की ओर मुड़कर सार्थक हो जाता है ।

तो, क्या रोग से भयभीत रहना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति रोग के आतंक के मारे दिन-रात व्याकुल रहता है, उसके समान कोई अभागा नहीं । ऐसा व्यक्ति तो रात-दिन रोता ही रहेगा । रोग से भयभीत रहने का यह तात्पर्य नहीं, बल्कि यह है कि रोग से डरकर वैद्य के पास जाए और स्वस्थ होने का उपाय करे । ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी कमियों को समझता है और जानता है कि उसके जीवन में ये दोष, ये रोग बने हुए हैं, जिन्हें वह स्वयं दूर करने में समर्थ नहीं है, और ऐसा जानकर जो भयाकुल चित्त से ईश्वर-शरणागति के औषधालय की शरण लेता है, ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान् राम सुग्रीव के सामने ही घोषणा कर उठते हैं—

जौं नर होइ चराचर द्रोही ।
आवै सभय सरन तकि मोही ।। ५।४७।२
——चराचर का द्रोह करनेवाला व्यक्ति भी यदि डरकर मेरी शरण में आता है, तो मैं——
करउँ सद्य तेहि साधु समाना (५।४७।३)
——उसे बहुत शीघ्र साधु के समान कर देता हूँ ।

तो क्या जो भी डरकर प्रभु के पास आ जाय, प्रभु उसे साधु बना देंगे ?——नहीं, ऐसी बात नहीं । प्रभु कहते हैं कि जो चार वस्तुएँ छोड़कर आता है, उसे मैं साधु बना देता हूँ । ये चार वस्तुएँ हैं——मद, मोह, कपट और नाना प्रकार के छल । प्रभु कहते हैं——

तजि मद मोह कपट छल नाना । ५।४७।३

एक सज्जन ने मुझसे कहा कि व्यक्ति जब इन चार दुर्गुणों को छोड़ देगा, तो अपने आप ही साधु बन जाएगा, फिर भगवान् के उसे साधु बनाने की क्या बात ? नहीं, बात इतनी सरल नहीं है, भगवान् के कथन का एक गूढ़ तात्पर्य है । जैसे वैद्य रोगी से कहता है——भई, हम तुम्हारा रोग तो दूर कर देंगे, पर तुम्हें दो-चार चीजें छोड़नी पड़ेंगी । तुम मुझसे कुछ छिपाना मत, कपट मत करना, ठीक ठीक बताना कि तुमने क्या कुपथ्य किया, रोग कैसे शुरू हुआ । वैद्य के यहाँ भी तो मद, मोह, छल और कपट छोड़कर ही जाना पडता है । मद का अभिप्राय यह है कि रोगी अपने रोग को छिपाने की चेष्टा न करे, अपने को रोगी समझे, तभी तो वैद्य दवा देगा । लंका में कोई अपने को रोगी मानता ही नहीं था, इसीलिए सुषेण वैद्य का किसी ने उपयोग नहीं किया । क्या कभी आपने रामायण में

पढ़ा कि सुषेण ने लंका में किसी का उपचार किया ? वे तो भगवान् राम थे, जिन्होंने लक्ष्मण को रोगी समझ सुषेण वैद्य से औषध देने की प्रार्थना की। और वैद्य ने जो औषध बतायी तथा यह कहा कि सूर्योदय से पहले वह आ जानी चाहिए तब लक्ष्मणजी के प्राण बचेंगे, तो भगवान् राम इसमें पूरा विश्वास करते हैं और हनुमानजी को दवा लाने भेज देते हैं। यदि सुषेण ने रावण से कहा होता कि दवा तो यहाँ से हजारों योजन दूर द्रोणाचल पर्वत पर है और सूर्योदय के पहले दवा न आने से रोगी के प्राण नहीं बचेंगे, तो रावण ने पहले वैद्य की ही पूजा की होती और उसे डाँटा होता कि तुम पहले से दवा मँगाकर क्यों नहीं रखते, ठीक समय पर दवा मँगाने के लिए कहते हो ?

तो, मद को छोड़ने का तात्पर्य है कि रोगी अपने को रोगी समझे। मोह छोड़ने का अर्थ है—वैद्य जो बताए उसके अनुसार चलना। यदि वैद्य के निर्देशानुसार रोगी कुपथ्य नहीं छोड़ेगा, तो कहना होगा कि वह मोहग्रस्त है, वह फिर स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर पाएगा। कपट-छल को छोड़ने का अर्थ है कि रोगी वैद्य के पास अपने रोग को न छिपाए, भीतर-बाहर कुछ छिपाकर न रखे, सब कुछ ठीक ठीक बता दे। यदि वह वैद्य से किसी प्रकार का दुराव करेगा, तो वह स्वस्थ नहीं हो पाएगा। अतएव रोग के सफल उपचार के लिए जिस प्रकार रोगी को वैद्य के पास मद, मोह, छल और कपट का त्याग करके जाना चाहिए, उसी प्रकार मानस-रोगों के उपचार के लिए जीव को मद-मोह-छल-कपट का त्याग करते हुए ईश्वर के शरणापन्न होना चाहिए—

यही भगवान् राम के कथन का तात्पर्य है। वे चाहते हैं कि जीव उनके पास जाकर अपनी कमियाँ निवेदित कर दे, और वे काम-क्रोध-लोभ आदि रोगों को दूर करने का भार अपने ऊपर लेते हैं। वे ऐसा नहीं कहते कि जीव, तुम मेरे पास काम छोड़कर आओ, या क्रोध और लोभ आदि छोड़कर आओ। वे तो कहते हैं कि इन रोगों को दूर करना मेरा काम है, तुम बस मद-मोह-छल-कपट का त्याग कर मेरे पास आ जाओ। जो व्यक्ति ऐसा करता है, भगवान् विश्वास दिलाते हैं कि वे उसे स्वस्थ बना देंगे।

तो, 'श्रीरामचरितमानस' का यह दर्शन है कि हम केवल राम को नहीं अपितु अपने को भी, अपनी कमियों को भी दर्पण में देखने की चेष्टा करें। उन कमियों को देखकर हम उन्हें किस प्रकार दूर कर सकते हैं और कैसे भगवान् की कृपा का लाभ कर स्वस्थता पा सकते हैं——वस्तुतः यही इस प्रसंग का मूल आधार है। यह प्रसंग कुछ रूखा-फीका होने पर भी मुझे विश्वास है कि आप इसे दवा की दृष्टि से ही ग्रहण करेंगे और केवल चूरण के रूप में देखने की चेष्टा नहीं करेंगे।

(क्रमशः)

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :— अघोरमणि देवी

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके अगस्त १९७८ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

यह सन् १८८५[1] की वसन्तऋतु की घटना है। एक दिन खूब तड़के एक वृद्धा ब्राह्मणी अपने कमरे में बैठकर गंगाजी को देखती हुई माला जप रही थी। उस समय श्रीरामकृष्णदेव को बालगोपाल की आधी बँधी दाहिनी मुट्ठीवाली मुद्रा में देख वह आश्चर्य से भर गयी। वह विभोर हो उठी और उसने देखा कि बालगोपाल अपनी मोहनी चितवन से उसकी ओर देखता हुआ मुसकरा रहा है। जैसे ही उसने उसकी मुट्ठी पकड़नी चाही, श्रीरामकृष्ण की मूर्ति अन्तर्हित हो गयी

---

१. स्वामी सारदानन्द 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा० २. रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृ. ४५१ में लिखते हैं, "सन् १८८५ ई. के चैत्र या वैशाख महीने में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के समीप जब हमने उन्हें प्रथम देखा था, तब प्राय: छ: महीने से वे उनके निकट सम्पर्क में आ रही थीं....।" १८८४ के नवम्बर-दिसम्बर में पहली बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये थे। भगिनी दयानाता ने स्वामी रामकृष्णानन्द के कथनों के प्रमाण से १८८४ को भेंट का वर्ष माना है। तदनुसार यह घटना मार्च-अप्रैल १८८५ की है, न कि १८८४ की, जैसा कि 'लीलाप्रसंग', पृ. ४६० में बतलाया गया है।

और उसमें से हाड़-मांस का लगभग एक महीने का शिशु निकल आया। आश्चर्य कि शिशु मइँया लेते हुए अपनी एक मुट्ठी आगे करके उस वृद्धा की ओर बढ़ते हुए बोला, "मैया, मुझे माखन दो न।" वृद्धा तो आनन्द से चिल्ला पड़ी, पर जल्द ही शान्त हो मक्खन या मलाई नहीं खिला पा सकने का दुःख प्रकट करने लगी। पर शिशु शान्त नहीं हुआ। वह बारम्बार कुछ खाने के लिए मांगने लगा। कोई चारा न देख वृद्धा ने छींके से जो थोड़े बहुत नारियल के लड्डू उसके पास थे निकाले और उसे खाने के लिए दिया। गोपाल प्रसन्न हो उठा और चाव के साथ उसे खाने लगा। यद्यपि वृद्धा ने गोपाल को कुछ समय के लिए शान्त कर दिया था, पर अपनी नित्य की पूजा-साधना वह आगे नहीं कर सकी, क्योंकि नटवर गोपाल कभी उसके कन्धे पर चढ़ जाता, तो कभी गोद में बैठ जप-माला खींच लेता, और फिर तुरन्त ही उतर कमरे में इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता। इस अपूर्व दर्शन ने वृद्धा को भाव-विह्वल कर दिया। जैसे ही दिन निकला, वह दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर की ओर शीघ्रता से चल पड़ी। बालगोपाल को उसने अपनी छाती से लगा लिया था, उसका सिर वृद्धा के कन्धों पर टिका था तथा दोनों सुकुमार चरणकमल वक्षस्थल पर झूल रहे थे। श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट होते ही वह वृद्धा 'गोपाल! गोपाल!' कहकर पुकारने लगी। वह श्रीरामकृष्ण में ईश्वर को बालगोपाल के रूप में पूजती थी। उसका भाव माता यशोदा का-सा था।

वह उन्मत्त-सी दिखती हुई भावावस्था में वहाँ पर

पहुँची थी। उसके केश बिखरे हुए थे, साड़ी का छोर जमीन पर घिसटता चल रहा था। उस समय गोलाप-माँ[२] श्रीरामकृष्ण का कमरा साफ कर रही थीं। पर उस ओर उसका कोई ध्यान ही नहीं गया और वह सीधे श्रीरामकृष्ण के समीप जाकर बैठ गयी। अड़तालीस वर्षीय श्रीरामकृष्ण भी भावस्थ हो उसकी गोद में आकर बैठ गये। वृद्धा अपने साथ लायी चीजें श्रीरामकृष्ण को खिलाने लगी और उसका मुख आनन्द से आह्लादित हो उठा। आँखों से आनन्दाश्रु झरने लगे। थोड़ी ही देर में श्रीरामकृष्ण सहजावस्था में आ गये और वे उठकर अपनी छोटी खाट पर जाकर बैठ गये। दूसरी तरफ आनन्द में डूबी वृद्धा ब्राह्मणी नाचने और गाने लगी—'ब्रह्मा नाचे, विष्णु नाचे' आदि। जैसे ही उसका भाव कुछ संवरित हुआ, वह कहने लगी कि बालगोपाल उसके और श्रीरामकृष्ण के बीच में खेल रहा है, कभी श्रीरामकृष्ण की देह में प्रविष्ट हो जाता है तो कभी उसकी स्वयं की गोद में बैठ उसके साथ खेलने लगता है। उसका यह दिव्य भाव काफी देर तक बना रहा। श्रीरामकृष्ण ने उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि की प्रशंसा की और उसे भरपेट भोजन करवाया। अपराह्न में उसके कामारहाटी लौटने से पूर्व तक श्रीरामकृष्ण ने उसके भाव को कुछ शान्त कर दिया था। उस दिन से श्रीरामकृष्ण उसे 'गोपाल की माँ' कहकर सम्बोधित किया करते।

यह दिव्य दर्शन पाने के कुछ महीने पूर्व ही अघोरमणि नामक इस धर्मनिष्ठ ब्राह्मणी ने पहली बार दक्षिणेश्वर में

२. गोलाप-माँ श्रीरामकृष्णदेव की शिष्या थीं, जो बाद में श्रीमाँ सारदा की संगिनी बनकर उनके उदबोधनवाले निवासस्थान में रहती थीं।

श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये थे। यह १८८४ का नवम्बर-दिसम्बर महीना रहा होगा। अघोरमणि की उम्र तब साठ से अधिक थी। वह तीन मील दूर कामारहाटी से नाव द्वारा दक्षिणेश्वर आयी थी। उसके साथ मकान-मालिक गोविन्दचन्द्र दत्त की विधवा और कामिनी नामक एक दूर की रिश्तेदार भी थी। नौ वर्ष की आयु में अघोरमणि का विवाह २४ परगना के पाइगहाटा, बोदरा गाँव के एक परिवार में हुआ था। कम आयु में ही विधवा हो जाने पर अघोरमणि ने अपने स्वभाव के अनुकूल अपने आपको आध्यात्मिक साधना में पूरी तरह समर्पित कर दिया था, क्योंकि बचपन से ही वह शान्त स्वभाव एवं आध्यात्मिक वृत्ति से युक्त थी। नियमित धार्मिक आचारों और कठोर संयम के साथ वह वात्सल्यभाव का सहारा ले बालगोपाल की भक्ति करते हुए एक आश्रित विधवा ब्राह्मणी का जीवन बिता रही थी। इस भाव में भगवान् एक दिव्य शिशु के रूप में पूरी तरह से भक्त पर उसी तरह से आश्रित रहते हैं, जिस प्रकार एक छोटा बालक अपने माँ-बाप पर। 'गोपाल' मन्त्र में दीक्षित हो उसने धीरे-धीरे भगवान् को अपने स्वयं के पुत्र-जैसा प्रेम करना सीख लिया। इससे उसका स्वयं का मातृत्व भी तृप्त हो रहा था। वह बालगोपाल के लिए रसोई बनाती, उसे खिलाती, नहलाती और उसके साथ खेलती। बालगोपाल की नित्यपूजा में वह इतनी मग्न रहती कि उसे अपने अभावों की सुध न आती। इस प्रकार धीरे-धीरे भगवान् के लिए उसके भीतर निष्काम प्रेम उपजने लगा। धार्मिक आचार, संयम तथा ब्रह्मचर्य से युक्त उसका जीवन एक निष्ठावान् ब्राह्मणी का था। गोविन्दचन्द्र दत्त के यहा बने मन्दिर के पुजारी नीलमाधव

बनर्जी की बहन होने के नाते वह उस दत्त-परिवार से, विशेषकर गोविन्दचन्द्र दत्त की विधवा से, अच्छी तरह परिचित थी। उस मन्दिरवाले बगीचे के दक्षिणी छोर पर एक छोटे से कमरे में उसको आश्रय मिला था। श्रीराम-कृष्णदेव के दर्शन से पूर्व ईश्वर-दर्शन की लालसा लिये उसने अपने जीवन के दीर्घ तीस वर्ष इस कमरे में बिता दिये थे। उसे अत्यन्त अभाव[३] में अपना जीवन बिताना पड़ा था, यहाँ तक कि कई बार तो उसे तकली की सहायता से यज्ञोपवीत बना उसे बेच अपने खाने-पहिनने की व्यवस्था करनी पड़ती। परन्तु कोई भी कष्ट, चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो, उसे अपनी नियमित साधना से विरत नहीं कर सका था। घण्टों पर घण्टे, दिन पर दिन, और कई बार तो लगातार रात और दिन वह अपनी माला जपने में पूरी तरह डूबी रहती। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार लिखते हैं, "कहीं जप न टूटे इसलिए वह बायें हाथ से पकाने का काम करती और दाहिने हाथ से जपमाला पर उसका जप चलता रहता।"[४] इन दीर्घ एकाकी वर्षों में उसके स्नेहिल मातृहृदय की करुणा और कोमलता, पीड़ा और भाव ही उसके एकमात्र संगी थे। उसकी तीस वर्षों तक लगातार

---

३. अपने स्वर्गीय पति की सम्पत्ति से प्राप्त जमीन बेचकर उन्हें ३००) मिले थे, जिसे ब्याज पर जमा करने पर उन्हें प्रतिमास ३) प्राप्त होता था। (देखें स्वामी निर्लेपानन्द कृत बंगला पुस्तक 'रामकृष्ण-सारदामृत' पृ. ४६ और ४९; और साथ ही देखें 'उद्बोधन' बँगला पत्रिका, कलकत्ता, आश्विन, बंगाब्द १३४६, पृ. ५६७)।

४. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बँगला), कलकत्ता-३, वसुमति साहित्य मन्दिर, पृ. ३६६।

प्रभु-दर्शन की यह लालसा देख रामायण में वर्णित शबरी का बरबस स्मरण हो आता है।

जहाँ तक उसकी व्यक्तिगत दिनचर्या का प्रश्न है, उसकी इन दिनों की चर्या तथा १८९८ में जब भगिनी निवेदिता उससे मिलने गयी थीं तब की चर्या में कोई विशेष अन्तर नहीं था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, "नदी के तट पर जल से निकलती हुई सीढ़ियों की लम्बी कतार कितनी सुन्दर दिख रही थी, जो विशाल घाट से ऊपर की लॉन में से होकर लता-गुल्मों से ढके दाहिने ओर के बरामदे की ओर ले जातीं, जहाँ एक छोटे से कमरे में, जो सम्भवत: उस महल के किसी सेवक के लिए बना था, गोपाल की माँ कितने सालों से अपनी जप-माला पर जप करती हुई रह रही थीं। उनका वह छोटा-सा कमरा सुख-सुविधाओं से एकदम रहित था। उनका बैठना-सोना कमरे की फर्श पर ही होता। किसी के आने पर बैठने के लिए वे आसनी बिछा देतीं, जो ऊपर आले में लपेटकर रखी रहती। मुट्ठी भर मुरमुरा और कुछ बताशे ही उनका एकमात्र भण्डार था, जिससे वे अतिथियों का स्वागत करतीं, और यह भण्डार एक छोटी-सी मटकी में छींके से लटकता रहता। परन्तु कमरा खूब साफ-सुथरा था। वे स्वयं गंगाजी से जल लाकर कमरे को बार-बार धोतीं। हाथ की पहुँच के पास आले में रामायण की एक पुरानी प्रति रखी होती...।"[५]

उस समय तक श्रीरामकृष्ण कलकत्ते और आसपास के क्षेत्र में एक जाने-माने सन्त बन चुके थे। एक निर्धन

५. भगिनी निवेदिता : 'The Master as I Saw Him'; उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, १० वाँ संस्करण, पृ. १४८-४९।

निष्ठावान् ब्राह्मण परिवार में जन्मे श्रीरामकृष्ण को औपचारिक शिक्षा और पौरोहित्य के कार्य में अरुचि थी। पर संयोग ऐसा हुआ कि उन्हें दक्षिणश्वर के मन्दिर में लगभग छह महीने तक पुजारी का काम करना पड़ा। उसके शीघ्र बाद ही दिव्य पथ की उनकी दुष्कर यात्रा प्रारम्भ हुई। भगवान् के प्रति बालक की तरह उनका निश्छल विश्वास, प्रभु-इच्छा में पूरी तरह समर्पण, सर्वस्व-त्याग तथा चरित्र की पवित्रता के कारण वे आध्यात्मिक अनुभूतियों की ओर तीव्र वेग से बढ़ चले। भगवान् के अस्तित्व की सत्यता को हिन्दू धर्म एवं अन्य धर्मों के विभिन्न मार्गों द्वारा प्रमाणित कर उन्होंने ऐसी अनुभूति हासिल की, जो सम्भवतः अभी तक अन्य किसी भी धार्मिक महा-पुरुष द्वारा हासिल नहीं हुई थी। उनका जीवन सम्पूर्णतः त्याग का होते हुए भी वे परम्परागत हिन्दू तपस्वी-जैसे नहीं थे, क्योंकि उनके हृदय में मानवमात्र के लिए गहरा प्रेम और करुणा थी। भक्तों की संगति में उन्हें विशेष आनन्द होता। वास्तव में वे सदा सच्चे भक्तों को खोजते रहते। वे स्वयं उच्चतम कोटि के भगवद्भक्त थे तथा वैष्णवों द्वारा प्रतिपादित हर भाव से, जिसमें वात्सल्यभाव भी था, उन्होंने ईश्वर की उपलब्धि की थी। अष्टधातु से बनी बालक-राम की मूर्ति रामलला के प्रति उनकी अनुभूतियों में भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम और ईश्वर का भक्त के प्रेम में बँधकर उसके साथ लीला करने का अद्भुत दृष्टान्त दिखायी देता है।

गोविन्द दत्त की विधवा और अघोरमणि दोनों परमहंस, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उस समय कहलाते थे, के सम्बन्ध में सुनकर, उनके दर्शनों के लिए उत्सुक थीं। वास्तव में

एक दिन दोपहर में उन्हें भीतर से प्रेरणा[६] हुई और वे लोग नौका द्वारा दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़ीं। श्रीरामकृष्ण मानो उन लोगों की प्रतीक्षा करते हुए अपने कमरे के बाहर दरवाजे पर खड़े थे। उन्होंने उन दोनों का स्वागत किया और उन्हें अपने कमरे में बैठाला। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें साधना के सम्बन्ध में उपदेश दिये तथा बतलाया कि जीवन में भगवान् के लिए प्रीति होना ही एकमात्र सार वस्तु है। उन्होंने कुछ भजन भी गाकर सुनाये तथा उन्हें कुछ मिठाई खाने को दी। अघोरमणि आचारवान् ब्राह्मणी थीं, इसलिए उन्होंने वह नहीं खाया, क्योंकि श्रीरामकृष्ण केवट जाति की रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में कुछ समय तक पुजारी रह चुके थे। उन्होंने मिठाई

६. अघोरमणि की आकुलता को समझाने के लिए भगिनी दयामाता एक घटना का वर्णन करती हैं। उन्हें यह घटना स्वामी रामकृष्णानन्द ने बतलायी थी। एक दिन अघोरमणि ने अपने इष्ट गोपाल के लिए बड़ी कठिनाई से प्रसाद बनाया, क्योंकि जलाऊ लकड़ी भीगी हुई थी तथा मौसम भी तूफानी था। जब पत्ते पर प्रसाद निकालने ही वाली थी कि हवा के कारण पत्ता उड़ गया। नाराज हो जब उन्होंने गोपाल को कोसना शुरू किया, तब कहीं से एक छोटा बालक पत्ता उठा लाया और पत्ते पर प्रसाद डालने में उनकी मदद करने लगा और फिर गायब हो गया। थोड़ी देर बाद उन्हें ऐसा लगा कि शायद गोपाल ही बालक के रूप में आया था, तब तो उनके दुःख का ठिकाना न रहा। उनके परिचितों ने उन्हें सान्त्वना दिलाने की दृष्टि से श्रीरामकृष्ण के दर्शन हेतु दक्षिणेश्वर चलने को कहा। वे एकदम राजी हो गयीं। देखें—भगिनी दयामाता : 'Sri Ramakrishna and His Disciples', ला क्रेसेन्टा, यू. एस. ए., आनन्द आश्रम, १९२८, पृ. ११०-१३।

दूसरे को दे दी।[७] पर यह बात श्रीरामकृष्ण की निगाहों से नहीं चूकी।

श्रीरामकृष्ण ने बड़ी सहजता से आनेवाली महिलाओं के आध्यात्मिक स्तर को, विशेषकर उन लोगों की उच्च भक्तिभावना को, पहचान लिया था। बाद में उन्होंने गोविन्द दत्त की विधवा और अघोरमणि के सम्बन्ध में कहा था--"अहा, उनके चेहरे पर क्या अपूर्व भाव है--मानो भक्ति-प्रेम में वे तैर रही हैं। कैसे प्रेम से भरे हुए नेत्र हैं! नाक के तिलक तक भी कितने सुन्दर हैं!"[८] वास्तव में उनकी चाल-ढाल, वेशभूषा आदि में उनके भीतर का भक्ति-भाव ही प्रकट हो रहा था। श्रीरामकृष्ण की बातों और व्यवहार ने अनजाने ही उन लोगों का हृदय जीत लिया। श्रीरामकृष्ण ने अपनी अनोखी प्रेम-भरी अदा से उनसे दक्षिणेश्वर पुनः आने की बात कहकर उन्हें विदा दी। गोविन्द दत्त की विधवा ने श्रीरामकृष्ण को एक बार अपने कामारहाटीवाले मन्दिर में पधारने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसी दिन की एक मजेदार घटना को भगिनी दयामाता ने स्वामी रामकृष्णानन्द से सुनकर लिखा है। अघोरमणि अपने साथ एक छोटी-सी पोटली में थोड़ा-सा चावल, दाल और सब्जी लेकर आयी थीं, जबकि उनके साथ के लोग अच्छे-अच्छे फल-फूल और मिठाई आदि लाये थे। अघोरमणि उस समय अत्यन्त संकुचित हो उठीं, जब

७. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' (बँगला), उद्बोधन, कलकत्ता, ५ वाँ संस्करण, पृ ३०।

८. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ४५२।

श्रीरामकृष्ण उनके पास आकर बैठ गये और कहने लगे, "तुम आयी हो, मेरे लिए क्या लायी हो, दो।"[९] दीन और दरिद्र ब्राह्मणी अपने साथ लायी चीजों की बात सोचकर लज्जा से गड़ गयीं। परन्तु श्रीरामकृष्ण छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने उस छोटी पोटली की ओर इशारा किया। ब्राह्मणी ने झिझकते हुए उसे खोला। श्रीरामकृष्ण ने वह पकाकर खिलाने के लिए कहा और इसके लिए रसोईघर दिखला दिया। बचाव का कोई चारा न देख ब्राह्मणी ने उसे पकाया। जब उन्होंने वह सादा भोजन श्रीरामकृष्ण के सामने परोसा, तो श्रीरामकृष्ण ने उनसे अपने हाथों से खिलाने के लिए कहा। "उन्होंने दाल-भात-साग मिलाकर जब पहला कौर श्रीरामकृष्ण के मुख में रखा, तो उन्हें उनमें अपना गोपाल नजर आया।"[१०] श्रीरामकृष्ण ने उस भोजन को बड़े चाव से खाया। बार-बार उनके पकाने की प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि इसमें सचमुच अमृत का स्वाद है। ब्राह्मणी आनन्दित हो उठीं तथा भीतर की संचित दुःखराशि उड़ गयी।

अघोरमणि अत्यन्त प्रभावित होकर घर लौटीं, पर सम्भवतः वे यह अनुमान न कर पायी थीं कि प्रभाव की गहराई कितनी थी। उन्हें तब ऐसा लगा था कि श्रीरामकृष्ण एक अच्छे साधु हैं, बस इतना ही। परन्तु इसके कुछ दिन बाद ही जब वे माला जपने बैठीं, तो उनके भीतर से इस सन्त के दर्शन के लिए जाने की अदम्य इच्छा उठने लगी। यह सोच कि सन्तों के दर्शन के लिए खाली हाथ

९. वही, पृ. ४५७।

१०. 'Sri Ramakrishna and His Disciples', पृ. ११३।

नहीं जाना चाहिए, उन्होंने दो पैसे की सामान्य-सी मिठाई खरीदी और दूसरी बार दक्षिणेश्वर आ पहुँचीं। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण कह उठे, "तुम आयी हो, मेरे लिए क्या लायी हो, दो।"[११] उन्होंने विस्मय से देखा कि श्रीरामकृष्ण ने उनकी दी चीजें बड़े चाव के साथ खा लीं। उनके सामने श्रीरामकृष्ण का भाव वैसा ही हो जाता, जैसे एक छोटा बच्चा अपनी माँ के सामने हो जाता है। वे बार-बार ब्राह्मणी से कहने लगे कि वे उनके लिए सब्जी-दाल और कुछ मीठा अपने हाथ से ही बनाकर लाया करें, चाहे सब कितना ही सादा क्यों न हो।

पर यह सब देख 'कामारहाटी की ब्राह्मणी', जैसा कि श्रीरामकृष्ण उन्हें उस समय कहते, अचरज में पड़कर सोचने लगीं कि ये कैसे साधु हैं, जो धर्म-कर्म के बारे में कुछ न कह सिर्फ खाने की ही बात करते हैं। उन्होंने सोचा कि अब वे फिर उनके दर्शन के लिए नहीं आएँगी। किन्तु भीतर कोई दुर्निवार आकर्षण उन्हें खींचकर शीघ्र दक्षिणेश्वर ले आया। उस दिन वे एक कटोरी में कुछ तरकारी बनाकर लायी थीं। श्रीरामकृष्ण ने वह खाया तथा बहुत प्रशंसा करते हुए कहने लगे, "अहा, कैसा उत्तम बना है, मानो अमृत है!"[१२] यह सुन ब्राह्मणी की आँखें आनन्द से डब-डबा आयीं। हृदय में छलकता आनन्द ले घर लौटीं। साधु का आकर्षण धीरे-धीरे उन पर अपनी पकड़ मजबूत करता जा रहा था, और उनकी दक्षिणेश्वर-यात्रा भी अब बारम्बार होने लगी। वे हमेशा साथ में कुछ न कुछ पकाकर लातीं।

११. वही, पृ. ११४।

१२. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ४५८।

वे जो भी लातीं, श्रीरामकृष्ण अत्यन्त तृप्ति के साथ उसे खाते। पर वे और और लाने की माँग करते रहते। इससे घबड़ाकर वे कभी-कभी सोचा करतीं--"गोपाल, तुम्हें पुकारकर मुझे आखिर यह फल मिला ? तुम ऐसे साधु के पास मुझे ले आये, जो केवल खाने को ही कुछ माँगता है ! अब आगे मैं नहीं आऊँगी।"[१३] पर पूरी चेष्टा करने के बावजूद वे श्रीरामकृष्ण के प्रति अपने जबरदस्त आकर्षण को दूर न कर सकीं तथा उससे खिंचकर अधिकाधिक दक्षिणेश्वर आने लगीं। उनमें भगवान् के प्रति प्रेम बहुत गहराई तक भिदा हुआ था। वात्सल्यभाव उनके स्वभाव में ही था, इसलिए ठाकुर को खिलाने में उन्हें आनन्द आता। ईश्वर-तत्त्व आदि के बारे में वे अधिक नहीं सोचतीं।[१४] श्रीरामकृष्ण में गोपाल-दर्शन के इस खिंचाव ने धीरे-धीरे ब्राह्मणी को जोरों से पकड़ लिया और उन्हें पिघलाकर 'गोपाल की माँ' में रूपान्तरित कर दिया।

उस दिव्य दर्शन के बाद लगभग दो महीने तक गोपाल की माँ का वह दिव्य भाव निरन्तर बना रहा। जीवन का कोई भी सुख उस दिव्य अनुभूति के आनन्द से अधिक सन्तोष नहीं दे सका था। उनकी अगली दक्षिणेश्वर-यात्रा पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "अभी तक तुम इतना जप क्यों करती हो ? तुम्हारा तो बहुत (दर्शनादि) हो चुका है ।"

गोपाल की माँ--क्या मैं जप नहीं करूँ ? मेरा सब हो चुका है ?

---

१३. वही, पृ. ४५९ ।

१४. रामचन्द्र दत्त : 'श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला), कलकत्ता, श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, बंगाब्द १३५७, पृ. १५२ ।

श्रीरामकृष्ण——सब हो चुका है।

गोपाल की माँ——सब हो चुका है?

श्रीरामकृष्ण—हाँ, सब हो चुका है।

गोपाल की माँ——यह तुम क्या कह रहे हो, मेरा सब हो चुका है?

श्रीरामकृष्ण——हाँ, अपने लिए जप-तप आदि करना तुम्हारा समाप्त हो चुका है, किन्तु (स्वयं के शरीर को दिखाते हुए) यह शरीर अच्छा बना रहे यह सोचकर यदि करना चाहो तो कर सकती हो।

गोपाल की माँ——अच्छी बात है, अब आगे जो कुछ भी करूँगी, वह एकमात्र तुम्हारे ही लिए करूँगी, तुम्हारे ही लिए करूँगी, तुम्हारे ही लिए करूँगी।[१५]

इसके पश्चात् एकमात्र गोपाल ही उनके चिन्तन का विषय बन गया। उन्हें यह अनुभूति हो गयी, और श्रीरामकृष्णदेव ने भी उसकी पुष्टि कर दी, कि श्रीरामकृष्ण उनके गोपाल से भिन्न नहीं, बल्कि वास्तव में दोनों एक ही हैं। उनके लिए श्रीरामकृष्ण दिव्य प्रेम के जीवन्त विग्रह थे और अब उनके हृदय में उनके प्रति ऐसा प्रेम और खिचाव उमड़ पड़ा था, जैसा कि एक माता का अपने छोटे शिशु पर होता है।

ब्राह्मणी ने अपनी जपमाला गंगाजी में विसर्जित कर दी। उनकी अब एकमात्र साधना रह गयी अपने बाल-गोपाल के साथ खेलना। पर कुछ महीनों के उपरान्त इस प्रकार के दर्शनादि कम हो गये। श्रीरामकृष्णदेव ने बतलाया था कि यदि ऐसा न होता, तो उनका शरीर न टिकता। श्रीरामकृष्ण उनकी उच्च आध्यात्मिक भावावस्था की

१५. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसग', भा. २, पृ. ४६४।

सदा प्रशंसा करते। १३ जुलाई १८८५ को उन्होंने कहा था, "कामारहाटी की ब्राह्मणी तरह-तरह के रूप देखती है . . .। गोपाल के पास सोती है। कल्पना में नहीं, साक्षात्। उसने देखा गोपाल के हाथ लाल हो रहे हैं। गोपाल उसके साथ घूमते हैं!—उसका दूध पीते हैं!—बातचीत करते हैं। . . .पहले मैं भी बहुत कुछ देखा करता था। इस समय भाव में उतना दर्शन नहीं होता।"[१६]

एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द), जो उस समय संशयी थे तथा जिन्हें अपनी तार्किक विचार-बुद्धि पर अभिमान भी था, का सामना इस सरल विश्वासयुक्ता गोपाल की माँ से करा दिया। उन्होंने गोपाल की माँ से अपने अनुभव नरेन्द्र को सुनाने के लिए कहा। यह सुनकर गोपाल की माँ बोलीं, "गोपाल, इन बातों को कहने से कोई दोष तो नहीं लगेगा?" तदनन्तर श्रीरामकृष्ण का आश्वासन प्राप्त कर आँसू बहाती हुई गद्‌गद कण्ठ से गोपालरूपी श्रीभगवान् के साथ हुई अपनी दिव्य लीलाओं को आद्योपान्त बतलाने लगीं। अन्त में सरल हृदय से वृद्धा बारम्बार नरेन्द्रनाथ से पूछने लगीं, "बेटा, तुम तो पण्डित तथा बुद्धिमान् हो, मैं दीन-दुखिया हूँ तथा कुछ भी नहीं जानती—तुम्हीं बताओ मेरे ये दर्शनादि मिथ्या तो नहीं हैं?" वृद्धा की बातों से अत्यन्त प्रभावित हो नरेन्द्रनाथ भी उनको पुनः पुनः आश्वासन प्रदान कर समझाते हुए कहने लगे, "नहीं माँ, तुमने जो कुछ देखा है, सत्य है।"[१७]

---

१६. 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. ३, प्रथम संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. १९५।

१७. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, भा. २, पृ. ४८४।

श्रीरामकृष्ण तो अत्यन्त उच्चकोटि के आध्यात्मिक गुरु थे, वे गोपाल की माँ को भगवद्भक्ति के दिव्य मार्ग पर आगे-आगे बढ़ाने लगे, और इस यात्रा में उनकी अनुभूतियों की प्रशंसा करते हुए मात्र बढ़ावा ही न देते अपितु जहाँ आवश्यक होता झिड़कियाँ भी देते। एक बार जब उन्होंने देखा कि गोपाल की माँ ने बलरामबाबू के परिवार से भेंट में एक पैकेट स्वीकार किया है, तब वे बहुत नाराज हुए। जब गोपाल की माँ को इसके लिए खूब पश्चात्ताप हुआ, तभी श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे पूर्ववत् व्यवहार करना प्रारम्भ किया।

श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वभाव के अनुसार गोपाल की माँ के प्रति सदा एक-सा भाव बनाये रखा। सब समय उन्होंने उनको अपनी माँ के समान ही समझा और स्वयं को उनका बालक गोपाल। उनके इस भाव को कोई तर्क खण्डित नहीं कर सकता था। एक दिन भक्तों की उपस्थिति में गोपाल की माँ को देख श्रीरामकृष्णदेव भावाविष्ट हो गये और उनके निकट खड़े हो उनके माथे से पैर तक सर्वांग में हाथ फेरते हुए दुलार प्रकट करने लगे, जैसे एक बालक अपनी माँ से मिलने पर किया करता है। वे गोपाल की माँ को दिखाते हुए सबसे कहने लगे, "इस ढाँचे के भीतर केवल हरि ही भरा हुआ है, यह शरीर हरिमय है।"[१८] एक बार जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर गोपाल की माँ अपने गोपाल (श्रीरामकृष्ण) को खिलाने के लए कुछ चीजें बनाकर ले आयीं। तब श्रीरामकृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित थे, इसलिए वे वह खा नहीं पाये। इससे ब्राह्मणी

१८. वही, पृ. ४८३।

को दुःख हुआ। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "तुम आशीर्वाद दो।"[१९]

गोपाल की माँ के दुःख को और अधिक बढ़ाता हुआ श्रीरामकृष्ण के गले का रोग बढ़ता ही गया और अन्त में उनका जीर्ण-शीर्ण शरीर उसको अधिक न सह सका। श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी भौतिक देह छोड़ दी, पर अपने पीछे वे गोपाल की माँ को वात्सल्यभाव के जीवन्त दृष्टान्त के रूप में छोड़ गये, जिससे भक्तिमार्ग पर चलनेवाले साधकों के लिए वे प्रेरणारूपी ज्योत्सना बिखेरते चन्द्रमा की सदृश रहें।

श्रीरामकृष्ण के अन्तर्हित होने पर गोपाल की माँ की अशान्ति की सीमा न रही, पर उनकी आध्यात्मिकता और अधिक गहरी होती गयी, जिसने उनके जीवन को उच्चतर अनुभूतियों से भर दिया। एक बार गंगाजी के उस पार 'माहेश' की रथयात्रा के दर्शनार्थ जाकर उन्हें सर्वभूतों में श्रीगोपाल का दर्शन प्राप्त हुआ था तथा उससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। इस प्रकार श्रीभगवान् के विश्व-रूप का दर्शनाभास प्राप्त कर प्रेमोन्मत्त हो जाने के कारण उस समय उनकी बाह्य चेतना नहीं रही थी। अपनी एक परिचित महिला के निकट स्वयं इस बात को बताते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मुझे अपना होश तक नहीं था, नाच-कूद में मैं मस्त हो रही थी।"[२०] उसके पहले तक वे सिर्फ गोपाल को चाहती थीं, पर अब वे सबको चाहने लगीं, क्योंकि अब सभी में उन्हें अपना वह गोपाल ही दिखायी देता था।

१९. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. ३, पृ. २७०।
२०. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा.२, पृ. ४९०।

उनके चेहरे से सन्तत्व की आभा झलकती और व्यक्तित्व से शान्ति एवं सान्त्वना चहुँओर विकिरित होती। पास हो या दूर, वे लोगों को प्रेरणा देती रहतीं। एक बार बलरामबाबू के यहाँ भक्तों ने उनसे प्रश्न पर प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया। उन्होंने उन लोगों को टालने की कोशिश की और उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्य शरत्, तारक और योगेन के पास जाने की सलाह दी। पर जब भक्त लोग न माने, तब वे यह कहकर राजी हुईं, "अच्छा ठहरो, मैं गोपाल से पूछती हूँ।" ऐसा लगा कि उनका गोपाल से सम्पर्क हो गया और सहजता के साथ प्रश्नोत्तर चलने लगा——भक्त लोग उनसे प्रश्न करते और गोपाल उनके माध्यम से प्रश्नों का उत्तर देते।[२१]

आयु बढ़ने के साथ-साथ उनका शरीर जर्जर होता चला, पर वे "पुरातन भारत के जीवन का——...प्रार्थनाओं और प्रेमाश्रुओं के, जागरण और उपवासों के भारत का[२२]..." प्रतिनिधित्व करती हुई जीवन-यापन करती रहीं। उनका जीवन उन आधुनिक संशयी लोगों के लिए चुनौतीस्वरूप था, जो हमेशा आध्यात्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे प्रेम की ज्योतिस्वरूप थीं और सदा प्रेम और माधुर्य, प्रशान्ति एवं पावनता का प्रकाश फैलाती रहतीं। श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों के लिए तो वे श्रीरामकृष्णदेव के जीवन एवं सन्देशों की महत्ता का जीवन्त उदाहरण थीं।

---

२१. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', भा. २, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ५०७।

२२ 'The Master as I Saw Him,' पृ. १४९ में स्वामी विवेकानन्द का एक वक्तव्य।

गोपाल की माँ ने परम्परागत नैष्ठिक कट्टर ब्राह्मणी के रूप में अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ की थी, पर उनके जीवन में विलक्षण रूपान्तरण साधित हुआ था। सत्यानुभूति ने उन्हें उदार बना दिया था। उनके हृदय में बहती भगवत्प्रेम की अजस्र धारा ने उनके हृदय को पूर्वाग्रह, संकीर्ण परम्परा, दिखावटी प्रदर्शन और विश्वास की कट्टरता से मुक्त कर दिया था। इस अस्सी वर्षीया वृद्धा ने विदेशी यूरोपियन महिला भगिनी निवेदिता को 'नरेन्द्र की मानस-पुत्री' के रूप में अपनाकर उन पर अपना प्रेम-वर्षण किया था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, "मैं रोमांचित हो उठती हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि गोपाल की माँ का सन्तत्व परमहंस के जैसा ही महान् है। कारण यह कि उनके अन्दर ऐसा मातृत्व था, जिससे रामकृष्ण का हृदय उनके लिए बालक बन गया। क्या इससे अधिक और कुछ कहा जा सकता है?"[२३] गोपाल की माँ ने अपने जीवन के अन्तिम अढ़ाई वर्ष भगिनी निवेदिता के साथ ही उनके १७ बोसपारा लेन, कलकत्ता में बिताये थे। जुलाई, १९०६ को नब्बे वर्ष से अधिक की आयु में[२४] उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय आकाश में आध्यात्मिक दिग्गज गोपाल की माँ एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में प्रकाशित हैं, जिसकी प्रभा प्रकाश तथा दिव्य आनन्द की छटा बिखेरती हुई सर्वग्रासी भगवत्प्रेम को चरितार्थ कर रही है।०

---

२३. प्रव्राजिका आत्मप्राणा : 'Sister Nivedita of Rama-krishna–Vivekananda', कलकत्ता, निवेदिता गर्ल्स स्कूल, १९६१, पृ. २०२।

२४. 'Complete Works of Sister Nivedita', II, कलकत्ता, निवेदिता गर्ल्स स्कूल, १९६७, पृ. ३७०।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) हरि-सा हीरा छाँड़िकै

अवन्ती प्रदेश की सीमा पर भिक्षु कोटिकर्ण की कुटी थी। वैसे वे अत्यन्त धनी थे, किन्तु उन्हें उससे विराग हो, वे प्रव्रजित हो गये थे। एक बार वे श्रोताओं को उपदेशामृत का पान करा रहे थे। श्रोताओं में बौद्ध श्राविका कातियानी भी शामिल थी। जब सन्ध्या हुई, तो उसने समीप बैठी एक दासी से घर में दीप जलाने को कहा।

जब दासी घर पहुँची, तो उसने देखा कि वहाँ सेंध लगी हुई है और चोर अन्दर का कीमती सामान उठा रहे हैं। दासी दौड़ी-दौड़ी कुटी पर आयी। चोरों का सरदार घर के बाहर रखवाली कर रहा था। वह भी दासी के पीछे-पीछे भागता हुआ आया। दासी ने श्राविका से कहा, "अज्जे! घर में चोरों ने सेंध लगायी है। जल्दी चलिए और कोई उपाय कीजिए।" किन्तु श्राविका ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और वह प्रवचन सुनने लगी। तब दासी ने स्पर्श कर कहा, "जल्दी उठिए, अन्यथा चोर सारे स्वर्णाभूपण ले जाएँगे।"

व्यवधान होने से कातियानी नाराज होकर बोली, "क्यों तंग कर रही हो। ले जाने दो चोरों को आभूपण, भला वे कोई मूल्यवान् हैं? वास्तविक आभूपण तो यहाँ पर हैं, जिन्हें भिक्षु कोटिकर्ण ने कोटि स्वर्ण मुद्राओं के आभूषणों को त्यागकर बदले में पाया है और जिन्हें वे यहाँ बाँट रहे हैं। मैं उनको बटोरना छोड़कर घर के तुच्छ आभूषणों के पीछे क्यों दौड़ूँ?"

दासी ने सुना, तो वह तो हतप्रभ हो ही गयी, चोरों

का सरदार भी स्तब्ध रह गया। उसके ज्ञानतन्तु झंकृत हो उठे। वह तुरन्त वापस लौट गया और उसने अपने साथियों से कहा, "यहाँ से खाली हाथ चलो। हम भी भिक्षु की कुटी में अनन्त सम्पदा प्राप्त करेंगे, जिसे पाने के लिए यहाँ की गृहस्वामिनी स्वर्णाभूषण की उपेक्षा कर रही है!"

(२) लघुता से प्रभुता मिले

एक बार सालेह आमरी नामक सन्त ने सन्त राबिआ से प्रश्न किया, "आपने यह दर्जा कैसे पाया है?"

सन्त राबिआ बोलीं, "अपनी सारी चीजों को खुदा की चाह में डुबा दिया और खुदा को पाया इबादत से।" सन्त सालेह ने पूछा, "क्या मुझे भी ऐसा दर्जा मिल सकता है?"

"बेशक! मगर तुममें जो कमी है, उसे दूर करना होगा। तुम्हें कुछ नसीहत लेनी होगी, तभी तुम यह दर्जा हासिल कर सकोगे।" राबिआ ने उत्तर दिया। फिर उन्होंने एक मोमबत्ती, सुई और बाल लाकर कहा, "मोम यह नसीहत देती है कि खुद को जलाकर दूसरों को रोशनी दो। सुई की खासियत यह है कि वह खुद तो नंगी रहती है, लेकिन दूसरों को कपड़े सीकर देती है। और रहा बाल, तो उसके माफिक लचकीले हलीम (नम्र) बनो। इन तीनों के समान खल्क की खिदमत में अपने को लगा दो, तब निश्चय ही इस दर्जे को हासिल करने के काबिल हो जाओगे।"

(३) तन-धन बिष की बेलरी

तमिल स्त्री-सन्त अव्वय्यार की छोटी अवस्था में ही उसके माता-पिता का निधन हो चुका था। तब एक दयालु

कवि ने उसका लालन-पोषण किया। जब उसकी आयु सोलह वर्ष की हुई, तो योग्य वर की खोज की जाने लगी। देखने में वह सुन्दर थी ही, एक राजकुमार ने उसे पसन्द कर लिया। किन्तु अव्वय्यार का तो ध्यान बचपन से ही भगवद्-भजन में लगा था। उसे घर-गृहस्थी से विरक्ति हो गयी थी। उसने अपने अभिभावकों से स्पष्ट शब्दों में कहा, "मैंने तो अपना जीवन भगवद्-भजन, काव्य-रचना और जनसेवा में बिताने का निश्चय किया है। आप मेरे विवाह का विचार त्याग दें।" किन्तु उन्होंने सोचा कि विवाह के बाद यह राजमहल के वैभव में सब कुछ भूल जाएगी, इसलिए उन्होंने उसकी बात अनसुनी कर दी।

जब अव्वय्यार ने देखा कि उसके शब्दों का कोई असर नहीं हुआ है, तो उसने विचार किया कि जिस यौवन और रूप-सम्पदा के कारण उसे वैवाहिक बन्धन में जकड़ा जा रहा है, यदि वह ही न रहे, तो अपनी इच्छा पूरी हो सकती है। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है?

जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा, तो वह भगवान् की शरण गयी और उसने कातर स्वर में प्रार्थना की, "भगवन्! मेरा यौवन और सौन्दर्य भजन-पूजन, सरस्वती की उपासना और ज्ञान-दान में बाधक बन रहे हैं। इसलिए हे प्रभु, मेरे इस तन को कुरूप कर दो, ताकि मैं बेहिचक सबकी सेवा कर सकूँ।"

दीनदयालु परमेश्वर ने उसकी आर्त पुकार सुन ली और एक रात्रि में ही अव्वय्यार के शरीर का सारा तेज जाता रहा। वह एक अधेड़ की भाँति कुरूप दिखायी देने लगी। लोगों ने जब देखा, तो हैरान हो गये, मगर बाद में उन्हें सही स्थिति मालूम हो गयी और वे उसके त्याग की

प्रशंसा करने लगे।

अब अव्वय्यार ने संन्यास ग्रहण कर अपना जीवन भगवद्-भजन और धार्मिक ग्रन्थ-रचना में व्यतीत किया। उसके एक ग्रन्थ 'नीति नेरि विलख्खम' में आता है—"शरीर यानी पानी का बुलबुला और धन-सम्पत्ति यानी समुद्र की उत्तुंग लहरें। पानी से लिखी रेखाएँ जितने समय तक टिकती हैं, शरीर और धन भी उतने ही काल तक रहता है। इसलिए मनुष्य को स्वयं को भगवद्-भजन में लीन करना चाहिए।"

(४) पर-उपकार बचन मन काया

कैथेरिन इटली की एक स्नेहमयी और साध्वी स्त्री थी। उसने डोमेनिक समुदाय के अनुसार संन्यास ले लिया था। बचपन से ही उसने अपना सारा जीवन परमात्मा के ध्यान-भजन और लोकसेवा में लगा दिया था। उसकी दयालुता, सेवा-भाव और भगवत्प्रेम से प्रभावित हो उसकी अनेक शिष्याएँ हो गयी थीं। इन्हीं में एक शिष्या एण्ड्रिया भी थी, किन्तु वह कैथेरिन से बेहद ईर्ष्या करती थी। उसने कैथेरिन पर व्यभिचार का कलंक लगाकर बदनाम करना शुरू किया, किन्तु कैथेरिन ने उस ओर ध्यान नहीं दिया।

दैवयोग से एण्ड्रिया की छाती में एक फोड़ा हो गया, जो सड़ गया और उससे बड़ी दुर्गन्ध आने लगी। सारी शिष्याएँ उससे दूर रहने लगीं। बात जब कैथेरिन को पता चली, तो वह नियमित रूप से उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी। मगर एण्ड्रिया पर इसका कोई असर नहीं हुआ और वह इसे ढोंग की संज्ञा देने लगी।

कैथेरिन की माता ने जब यह सुना, तो उससे न रहा

गया और वह बोली, "बेटी, यह तेरी इतनी बदनामी करती है, फिर भी तू इसकी सेवा करती है। इस आश्रम को छोड़कर आराम से घर में जीवन बिता।" कैथेरिन ने जवाब दिया, "माँ! मनुष्य न मालूम कितनी बार ईश्वर के अस्तित्व को नकार देता है, मगर उस दयालु परमेश्वर की करुणा में कभी कमी आई? जब प्रभु की इच्छा है कि मैं लोगों की सेवा करूँ, तो मैं अपने को इससे अलग क्यों कर लूँ?" यह सुनकर माता की आँखें छलछला आयीं और वह वापस चली गयी।

कैथेरिन नियमित रूप से एण्ड्रिया की शुश्रूषा करती रही। आखिर एण्ड्रिया की आँखें खुल गयीं। उसके पापी मन ने भी उसे फटकार लगायी कि नाहक ही वह एक पवित्र स्त्री को बदनाम करती रही। पश्चात्ताप से उसका पाषाण हृदय गल गया। वह कैथेरिन के चरणों पर गिर-कर बोली, "बहिन, तू मनुष्य नहीं देवी है। मैंने तुझे नाहक बदनाम किया। मुझे क्षमा करो, बहिन!" कैथेरिन ने उसे गले लगाकर कहा, "बहिन, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है; जो होना था, वही हुआ है।"

○

जैसी मति वैसी प्राप्ति

(गीताध्याय ४, श्लोक ११-१२)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।११।।

ये (जो लोग) यथा (जिस भाव से) मां (मुझको) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) तान् (उनको) अहं (मैं) तथा (उस भाव से) एवं (ही) भजामि (अनुग्रह करता हूँ) पार्थ (हे अर्जुन) मनुष्याः (मनुष्य) सर्वशः (सब प्रकार से) मम (मेरे) वर्त्म (मार्ग का) अनुवर्तन्ते (अनुसरण करते हैं) ।

"जो लोग जैसा भाव लेकर मेरे पास आते हैं, मैं उनके उस भाव की रक्षा करता हुआ उन्हें उसी प्रकार फल देता हूँ । हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ।"

पिछले दो श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को बताया कि जो मेरे जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जान लेता है, वह मुझी को प्राप्त होता है और ऐसे बहुत से लोग मेरी शरण लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं । यह सुनकर अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि क्या भगवान् में भी भेदभाव है, जो वे कुछ को अपना स्वरूप प्रदान करते हैं और दूसरों को नहीं ? क्या उनमें भी पक्षपात है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जो जैसा भाव लेकर मेरे पास आता है, उस पर उसी प्रकार से अनुग्रह करता हूँ अर्थात् उसकी मनोभावना के अनुरूप उसे फल प्रदान करता हूँ । जो मुमुक्षु है, मोक्ष पाने की इच्छा लेकर

भगवान् के पास जाता है, उसे वे मुक्ति प्रदान करते हैं। और जो सकाम भक्त है, किसी सांसारिक कामना को लेकर ईश्वर की उपासना करता है, ईश्वर उसकी उस कामना की पूर्ति कर उस पर अनुग्रह करते हैं। ईश्वर में राग-द्वेप नहीं हैं। वे किसी के पास या किसी से दूर नहीं हैं। वे तो सबके अपने हैं। जो जिस भाव से उन्हें चाहता है, वे उसी भाव से उसे प्राप्त होते हैं।

श्रीरामकृष्ण कहते थे--ईश्वर कल्पतरु हैं। कल्पतरु किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता। जो उसके नीचे बैठकर जो माँगता है, वही पाता है। फिर वे यह भी कहते थे कि ईश्वर अनन्त भावमय हैं। संसार में जितने भी भावों की कल्पना हो सकती है, ईश्वर सबके समष्टिस्वरूप हैं। अब यह तो व्यक्ति पर है कि वह ईश्वर के किस भाव को जागृत कर उसके साथ अपने को युक्त करता है। जैसे, रेडियो की कितनी ध्वनि-तरंगें हैं। व्यक्ति अपने रेडियो को जिस ध्वनि-तरंग पर रखेगा, वही सुन पाएगा। यदि वह दूसरा कुछ सुनना चाहता है, तो उसे अपने रेडियो को उसी की अनुरूप ध्वनि-तरंग पर रखना होगा। या, जैसे टेलीविजन है। अपने दूरदर्शन यंत्र को व्यक्ति जिस चैनल पर रखेगा, वही दृश्य देख पाएगा। अलग-अलग रेडियो में अलग-अलग कार्यक्रम सुनायी पड़ते हैं, उसी प्रकार अलग-अलग टी. वी. में अलग-अलग दृश्य दिखायी देते हैं। किसी रेडियो में बड़ा ही सुन्दर, मनमोहक भजन आ रहा है और किसी रेडियो में बहुत उबाऊ कार्यक्रम प्रस्तुत हो रहा है। अब यदि यह दूसरा व्यक्ति आकाशवाणी को दोष दे और कहे कि तुम पक्षपात करते हो, मेरे पड़ोसी के रेडियो में तो मनोहारी भजन प्रस्तुत करते हो और मेरे रेडियो में

ऐसा भोंड़ा कार्यक्रम सुना रहे हो, तो ऐसा दोष देना क्या उचित है ? लोग तो दोष देनेवाले को ही मूर्ख कहेंगे। कहेंगे कि अरे बौड़म, तुम भी अपने रेडियो को भजनवाले कार्यक्रम के लिए 'ट्यून' क्यों नहीं कर लेते ? दोष तो तुम्हारा है।

एक घटना याद आती है। मैं एक सम्पन्न व्यक्ति के यहाँ बैठा हुआ २६ जनवरी का 'आँखों-देखा हाल' रेडियो से सुन रहा था। और भी कुछ लोग वहाँ बैठे थे। इतने में उन सज्जन का एक छोटा बच्चा अपने हाथ में एक रेडियो ले वहाँ आया। पिता ने अपने बेटे का मन रखने के लिए उसके लिए एक अलग ट्रांजिस्टर रेडियो खरीद दिया था। लड़के के रेडियो में कोई वार्ता आ रही थी। उसे उसमें रुचि नहीं थी। वह भी 'आँखों-देखा हाल' सुनना चाहता था। वह आकर अपने पिता से शिकायत करने लगा, "पापा, आपने यह कैसा रेडियो मुझे खरीद दिया है, जिसमें 'आँखों-देखा हाल' नहीं सुनायी दे रहा !" उपस्थित एक व्यक्ति ने विनोद करते हुए कह दिया, "बेटे, तुम्हारे पापा ने तुम्हारे लिए घटिया माल खरीद दिया है, इसीलिए तुम्हारे रेडियो में वह नहीं आ पा रहा है।" बच्चे ने आव देखा न ताव, गुस्से में आकर जोरों से अपने रेडियो को पटक दिया। अब यह घटना क्या दर्शाती है ? लड़के की अबोधता ही न ? ठीक इसी प्रकार हम भी धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में अबोध बन जाते हैं और ईश्वर को पक्षपात और भेदभाव का दोष देने लगते हैं।

एक दूसरा उदाहरण लें। बिजली में ताप, शीत, हवा, प्रकाश आदि देने के गुण हैं, फिर उसके द्वारा हम कोई गीत सुन सकते हैं और दृश्य भी देख सकते हैं। बिजली में परस्पर-विरोधी गुण सन्निहित हैं। अब यह हम पर है

कि हम उससे क्या लेना चाहते हैं। यदि हमें हवा की आवश्यकता है, तो पंखे को बिजली से युक्त कर दें। प्रकाश चाहिए तो बल्ब को, शीत चाहिए तो 'कूलर' को और ताप चाहिए तो 'हीटर' को बिजली से जोड़ दें। गीत सुनना हो तो रेडियो या रेकार्ड-प्लेयर के और दृश्य देखना हो तो टेलीविजन के प्लग को लगा दें। बिजली निरपेक्ष है। व्यक्ति उसके जिस गुण की चाह करता है, उसको प्रकट करने वाला यंत्र वह बिजली से जोड़ दे, तो उसे वही मिलेगा। इसी प्रकार ईश्वर भी निरपेक्ष हैं, पर साथ ही वे अनन्त भावमय हैं। हम जो भाव लेकर उनके पास जाएँगे, वे हमारे उसी भाव को पूर्ण करेंगे।

भगवान् कृष्ण के इस कथन पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं---'ये यथा येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन यत्फलार्थितया मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव तत्फलदानेन भजामि अनुगृह्णामि अहम् इति एतत्। तेषां मोक्षं प्रति अनर्थित्वात्। न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत् संभवति। अतो ये फलार्थिनः तान् फलप्रदानेन। ये यथोक्तकारिणः तु अफलार्थिनो मुमुक्षवः च तान् ज्ञानप्रदानेन, ये ज्ञानिनः संन्यासिनो मुमुक्षवः च तान् मोक्षप्रदानेन; तथा आर्तान् आर्तिहरणेन इति एवं यथा प्रपद्यन्ते ये तान् तथा एव भजामि इत्यर्थः। न पुनः रागद्वेषनिमित्तं मोहनिमित्तं वा कंचिद् भजामि।'---अर्थात् 'जो भक्त जिस प्रकार से---जिस प्रयोजन से---जिस फलप्राप्ति की इच्छा से मुझे भजते हैं, उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ अर्थात् उनकी कामना के अनुसार ही फल देकर मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ, क्योंकि उन्हें मोक्ष की इच्छा नहीं होती। एक ही पुरुष में मोक्ष की इच्छा करना और फल की इच्छा करना ये दोनों

एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए जो फल की इच्छावाले हैं उन्हें फल देकर, जो फल को न चाहते हुए शास्त्रोक्त प्रकार से कर्म करनेवाले और मुमुक्षु हैं उन्हें ज्ञान देकर, जो ज्ञानी, संन्यासी और मुमुक्षु हैं उन्हें मोक्ष देकर तथा आर्तों का दुःख दूर करके, इस प्रकार जो जिस तरह से मुझे भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ। राग-द्वेष के कारण या मोह के कारण तो मैं किसी को भी नहीं भजता।'

श्रीरामकृष्णदेव ईश्वर को कल्पतरु बताते हुए एक कहानी कहते हैं। जेठ की दुपहरी में कोई थका-माँदा व्यक्ति जल्दी-जल्दी अपने कदम बढ़ा रहा था, जिससे रात होने के पहले वह अपने गाँव पहुँच जाय। रास्ते में एक वियाबान जंगल पड़ता था। थका तो था ही, एक वृक्ष की घनी शीतल छाया देख वह थोड़ी देर वहाँ बैठकर सुस्ताने लगा। भूख-प्यास जोरों से लगी हुई थी। 'आह!'—उसने मन में सोचा, 'यदि कुछ खाने को मिल जाता और पीने को ठण्डा पानी, तो क्या बढ़िया बात होती!' सोचने की देर न थी कि उसने 'ठक्' की आवाज सुनी। उसने घूमकर देखा, वृक्ष के दूसरी ओर एक थाल ढकी हुई रखी है और बाजू में सुराही है, जिसमें गिलास ढका हुआ है। पथिक को घोर आश्चर्य हुआ। वह उठकर थाल के पास गया, ऊपर का कपड़ा उठाकर उसने देखा कि उसकी मनपसन्द चीजें थाल में सजाकर रखी हैं। फिर क्या था, उसने छककर भोजन किया और पेट भरकर शीतल जल पिया। अब तो उसे आलस्य सताने लगा। सोचा, चन्द मिनट पैर लम्बे कर लूँ। और वह जमीन पर लेट गया, बाँह को तकिया बना लिया। मन में विचार उठा कि आह, यदि सोने के लिए गद्दा-तकिया मिल जाता और कोई जरा देह को दबा देता,

तो क्या मजा आता ! सोचने की देर न थी कि उसने एक सुन्दरी तरुणी को सिर पर गद्दा लाते देखा। वह उसके पास आयी और गद्दा बिछाकर बोली——लो इस पर लेट जाओ। पथिक मोहित हुआ-सा गद्दे पर लेट गया और तकिये पर सिर रख अपने पैर फैला दिये। तरुणी अपने कोमल हाथों से उसके पैरों को दबाने लगी। वह थका तो था ही, फिर पेट भी खूब भर गया था। उस पर नींद ने हमला बोल दिया। जब उसकी निद्रा टूटी, वह देखता है कि साँझ जंगल में उतर चुकी है। न तो वहाँ वह रमणी है, न गद्दा, न तकिया। तब उसने सोचा कि वह थकान के कारण सो गया था और सपने देख रहा था। दूसरे ही क्षण भय ने उसे जकड़ लिया। वह सोचने लगा कि अगर इस समय शेर आकर मुझ पर टूट पड़े तो ! और त्योंही एक शेर दहाड़ता हुआ आया और उसे चट कर गया !

श्रीरामकृष्ण यह कहानी बताकर कहते हैं कि पथिक नहीं जानता था कि वह कल्पवृक्ष के नीचे बैठा है। कल्पवृक्ष जैसे सदिच्छाओं की पूर्ति करता है, वैसे ही असदिच्छाओं की भी। ईश्वर भी ऐसे ही कल्पवृक्ष हैं। अब यह तो मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह ईश्वर से क्या चाहता है। इस प्रसंग में 'भागवत' में आया प्रह्लाद का उपाख्यान भी मननीय है। कथा आती है कि नृसिंह भगवान् बालक प्रह्लाद पर प्रसन्न हो गये और उससे कहा, "बेटे, मैं तुम्हारी भक्ति से पसीज गया हूँ, चलो, तुम्हें सदेह वैकुण्ठ ले चलता हूँ। ऐसा भाग्य विरलों को ही मिला करता है।" प्रह्लाद ने विनयावनत हो कहा, "प्रभो, मैं आपकी कृपा से अभिभूत हूँ, जो आप मुझे सदेह वैकुण्ठ ले जाना चाहते हैं, पर, नाथ, मैं अकेले ही वैकुण्ठ जाना पसन्द नहीं करूँगा——'नैतान्

विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः' (७।९।४४)। मेरे साथी भी आपका भजन-कीर्तन करते रहे हैं। यदि आप उन्हें भी मेरे साथ वैकुण्ठ जाने दें, तब तो आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, अन्यथा इन सबको यहाँ छोड़कर मैं अकेले वैकुण्ठ नहीं जाना चाहूँगा।"

नृसिंह बोले, "बेटा प्रह्लाद, मैं तेरी उदारता देख अतिशय प्रसन्न हुआ हूँ। पर वत्स, तेरे मित्र भी क्या तेरे समान सदेह वैकुण्ठ जाना चाहेंगे? यदि वे राजी हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

और कथा कहती है कि प्रह्लाद अपने सारे मित्रों के पास घूम आये, पर उनमें से एक भी वैकुण्ठ जाने के लिए राजी नहीं हुआ। सबने कुछ न कुछ बहाना बनाकर प्रह्लाद को टरका दिया। तब प्रह्लाद की आँखें खुलीं। कथा तो और भी लम्बी है, पर हम इसका यही तत्त्व लेना चाहते हैं कि ईश्वर में विषमता नहीं है। वे किसी के साथ भेदभाव नहीं करते। व्यक्ति उनसे जो चाहता है, वह पाता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन के मनोभाव को भाँपकर उससे कहते हैं कि अर्जुन, जो जिस प्रकार मुझे भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या भगवान् की भजना मात्र श्रीकृष्ण-रूप से करने से ही जीव को मनोवांछित फल मिलेगा? अन्य देवी-देवता की उपासना करने से उसे क्या फल कीप्राप्ति नहीं होगी? श्रीकृष्ण इसका भी उत्तर देते हुए श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं कि उपासना के सारे रास्ते अन्ततोगत्वा मुझी में आकर मिल जाते हैं। यह श्रीकृष्ण की बड़ी उदार वाणी है। सारे देवी-देवता उसी नारायण के ही विभिन्न रूप हैं, इसलिए उन सबकी अर्चना प्रकारान्तर

से नारायण की ही अर्चना है। यह उदारभाव हिन्दू धर्म की विशेषता है। इस बार भगवान् ने श्रीरामकृष्ण के रूप में अवतरित हो इस सिद्धान्त को अपने जीवन में जिया। उन्होंने विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के माध्यम से ईश्वर को पाने की साधना की और वे अपनी साधनाओं में सफल रहे। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि सारे धर्ममत और सम्प्रदाय उसी एक ईश्वर के पास जाने के अलग-अलग रास्ते हैं। उन्होंने अपनी इस अनुभूति को वाणी देते हुए कहा--'जितने मत उतने पथ'। श्रीरामकृष्ण का जीवन विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इस मंत्र का भाष्यस्वरूप था। इस मंत्र का अर्थ है--'सत्य एक है, ज्ञानीजन उसी एक सत्य को अलग-अलग नाम से पुकारते हैं।' जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते--हिन्दू सरोवर के पास जाकर कहता है 'जल', मुसलमान कहता है 'पानी', ईसाई कहता है 'वाटर', अन्य कोई कहता है 'एकुआ', उसी प्रकार उस एक ईश्वर को ही विभिन्न धर्मवाले अलग-अलग नाम से पुकारते हैं। जो व्यक्ति ईश्वर की जैसी धारणा बनाकर उनके पास जाएगा, ईश्वर उसे उसी प्रकार से मिलेंगे।

प्रस्तुत श्लोक का 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' यह जो उत्तरार्ध है, ठीक यही वाक्य हमें तीसरे अध्याय के तेईसवें मंत्र के उत्तरार्ध में भी प्राप्त होता है। पर वहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार इसी वाक्य का अर्थ सर्वथा भिन्न हो गया है। इससे यह विदित होता है कि शब्द का अर्थ निश्चित करने में सन्दर्भ सबसे महत्त्व का होता है।

कुछ लोग प्रस्तुत श्लोक का ऐसा शब्दार्थ करते हैं कि 'जो मेरे साथ जैसा बर्ताव करता है, मैं भी उससे वैसा ही

बर्ताव करता हूँ और इसका यह तात्पर्य लेते हैं कि दुष्ट के प्रति दुष्टता करना, शठ के प्रति शठता करना, शत्रु के प्रति शत्रु का व्यवहार करना आदि धर्मसंगत है। पर यह सही नहीं है। इससे तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। यहाँ तो भगवान् का मात्र इतना ही आशय है कि व्यक्ति मुझे जिस रूप में चाहता है, उसके सामने उसी रूप में आता हूँ; वह मेरे पास जैसी मनोभावना लेकर आता है, उसी के अनुरूप उसे फल प्रदान करता हूँ। यदि कोई मेरे निर्गुण-निराकार रूप का चिन्तन करते हुए मेरे स्वरूप का ज्ञान चाहता है, उसके समक्ष अपने प्रकृत स्वरूप को उद्घाटित कर उसे मुक्त कर देता हूँ और जो भक्त किसी विशिष्ट रूप में मुझे प्राप्त करना चाहता है, उसके पास उसी रूप में आविर्भूत हो उसकी भक्ति को पुष्ट करता हूँ। सार तत्त्व यह है कि साधक अपने मनोनुकूल जिस रास्ते से ही क्यों न चले, अन्ततोगत्वा वह उसे उसी एक भगवान् के पास पहुँचा देता है। जैसा कि कहा भी तो है—'सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति', अर्थात् सब देवताओं को किया हुआ नमस्कार परमेश्वर को ही पहुँचता है। श्रीभगवान् आगे कहेंगे भी कि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ ९/२३

—'जो लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, पर हाँ, अविधिपूर्वक।' जो अन्य देवताओं की विधिपूर्वक पूजा है, वही भगवान् की अविधिपूर्वक पूजा है। यहाँ पर 'विधि' और 'अविधि' शब्दों का तात्पर्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करना ही उचित होगा।

प्रश्न उठता है कि जब विश्वरूप वासुदेव सबके लिए समान हैं और उनकी उपासना मनुष्य को मोक्षरूप शाश्वत फल प्रदान करती है, तब वह विभिन्न देवताओं के पीछे पड़कर अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग क्यों करता है ? वह सीधे भगवान् को ही क्यों नहीं भजता ? इस पर कहते हैं--

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।

कर्मणां (कर्मों की) सिद्धिं (सिद्धि) कांक्षन्तः (चाहनेवाले लोग) इह (इस लोक में) देवताः (देवताओं का) यजन्ते (यजन करते हैं) हि (क्योंकि) मानुषे लोके (मनुष्य-लोक में) कर्मजा (कर्मजनित) सिद्धिः (सिद्धि) क्षिप्रं (शीघ्र) भवति (होती है)।

"इस लोक में कर्मों की सिद्धि चाहनेवाले लोग देवताओं का यजन करते हैं, क्योंकि मनुष्य-लोक में कर्मजनित सिद्धि शीघ्र होती है ।"

ऐसे लोग बहुत कम होते हैं, जो ज्ञानप्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं, क्योंकि ज्ञान का फल बड़े विलम्ब से मिलता है । न जाने कितने जन्मों की साधना के फलस्वरूप ज्ञान-प्राप्ति की साधना फलवती होती है । सब लोगों में इतना धीरज नहीं होता कि ज्ञान-साधना के फल की अविचलित होकर प्रतीक्षा कर सकें । मनुष्य तो आशु फल चाहता है । कर्म ही उसे शीघ्र फल प्रदान कर सकता है । आज उसने कर्म किया और वह इसी जीवन में इस कर्म का फल पाना चाहता है, बल्कि यों कहें, वह शीघ्र से शीघ्र अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल पाने के लिए लालायित रहता है । ऐसा व्यक्ति भगवान् के पास कहाँ जायगा ? भगवान् के पास या तो ज्ञानी जाता है या भक्त । ज्ञानी और भक्त

दोनों कर्मफल नहीं चाहते। ज्ञानी अपने को अकर्ता मानता है, समझता है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों में बर्त रही हैं, और वह इस अकर्ताभाव में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो जाना चाहता है। भक्त अपने कर्म का कर्तापन और फल का भोक्तापन अपने प्रेमास्पद भगवान् को सौंपकर केवल उनके चरणों की भक्ति चाहता है। अब ऐसे उन्नत-मना साधक भला कितने हो सकते हैं? शेष सब लोग तो अपने कर्मों का फल हाथोंहाथ पाना चाहते हैं। इसीलिए वे अन्य देवताओं का यजन करते हैं। ये देवता शीघ्र प्रसन्न होकर उनके कर्मों में सफलता प्रदान करते हैं।

ये लोग भी भक्त ही हैं--पर हाँ, वे आर्त और अर्थार्थी भक्त हैं। वे ईश्वर को मानते हैं, सकाम भक्त हैं। हममें से अधिकांश इसी श्रेणी के होते हैं। हमें सन्तति चाहिए, धन चाहिए, नाम-यश चाहिए, सत्ता चाहिए, मुकदमे में जीत चाहिए, इसलिए हम भगवान् की भजना करते हैं और उनके ऐसे रूप की भजना करते हैं, जिससे हमें अपनी कामना की शीघ्र पूर्ति हो जाय। जैसे आजकल बहुत से लोग सन्तोषी माता की उपासना करते हैं। उन्हें लगता है कि इनकी उपासना से काम जल्दी सिद्ध होगा। वैसे ही, लोग अन्य देवी-देवताओं की मनौती मानकर पूजा करते हैं। तात्पर्य यह है कि अधिकांश मनुष्य कर्म की सिद्धि में विश्वास रखते हैं, उन्हें ज्ञान की सिद्धि में उतना विश्वास नहीं होता। अल्प धीरजवाले व्यक्ति ज्ञान की साधना नहीं कर सकते।

दो तपस्वियों का दृष्टान्त है। दोनों कुछ दूरी पर कुटिया बनाकर तपस्या में रत रहते थे। एक दिन देवर्षि नारद उस रास्ते से गुजरे। एक तपस्वी ने कहा कि

महाराज, जब आप भगवान् से मिलें तो कृपया उनसे यह पूछ लें कि मेरी मुक्ति कब होगी। दूसरे तपस्वी ने भी उनसे यही कहा। नारद जब भगवान् से मिलकर लौटे, तो उन्होंने पहले तपस्वी से कहा कि तुम्हारी मुक्ति पाँच जन्मों बाद होगी, तब तक तुम्हें और साधना करते रहना होगा—ऐसा भगवान् ने बताया है। यह सुनकर तपस्वी खिन्न हो गया। पाँच जन्मों तक और साधना करना उसके लिए पहाड़ के समान हो गया। वह बिलखने लगा और भगवान् को दोष देने लगा। जब नारद दूसरे तपस्वी से मिले, तो उसे भगवान् का निर्देश बताते हुए कहा, "देखो, भगवान् ने कहा है कि सामने इस वृक्ष में जितनी पत्तियाँ हैं, उतने जन्मों के बाद तुम्हें मुक्ति मिलेगी।" यह सुनते ही यह दूसरा तपस्वी आनन्द से विह्वल हो नाचने लगा। देवर्षि चकित हो गये। कहा—"क्या तुम पागल हो? इसमें आनन्द मनाने की क्या बात है? तुम्हारा वह मित्र तो पाँच जन्म की भी बात नहीं सह सका, और तुम यों नाच रहे हो?" उस तपस्वी ने कहा, "देवर्षे, भगवान् ने यह स्वीकार तो कर ही लिया कि मेरी मुक्ति होगी। मैं तो अपने को इसके लायक नहीं मानता था, पर आपसे सुनकर मुझे भरोसा हो गया कि देर-सबेर भगवान् मुझ पर कृपा करेंगे ही। बस, यही मेरे आनन्द का कारण है।"

पर ऐसा धैर्य का दृष्टान्त विरल होता है। जिनमें इस प्रकार का धीरज होता है, वे ही भगवान् के पास जाने के अधिकारी होते हैं। शेष बहुलांश लोग तो इसी जीवन में अपने कर्म की सिद्धि चाहते हैं। इस मनुष्य-लोक में कर्म से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र दिखायी

देती है। कर्मसिद्धि का मापदण्ड तो उसका फल ही है, पर ज्ञानसिद्धि का मापदण्ड इस प्रकार इन्द्रियगम्य नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन का एक प्रसंग है। तब वे नरेन्द्रनाथ के नाम से परिचित थे। श्रीरामकृष्ण के पास आकर उन्होंने एक दिन शिकायत के स्वर में कहा, "देखिए, कितने लोगों को कितने कितने प्रकार के दर्शन होते हैं, पर मुझे तो अब तक कोई दर्शनादि नहीं हुए ?" श्रीरामकृष्ण ने सस्नेह सान्त्वना देते हुए कहा, "नरेन्द्र, वह सब तेरे लिए नहीं है। तेरा तो एकदम से होगा।" श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य यह था कि नरेन्द्र उच्च अधिकारी हैं, उन्हें छोटे-मोटे दर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है। उन्हें तो एकदम से पूर्ण ज्ञान ही होगा, ज्ञान की उच्चतम उपलब्धि ही होगी। निम्नअधिकारसम्पन्न व्यक्ति छोटे-मोटे दर्शनादि से सन्तुष्ट हो सकते हैं, क्योंकि उच्च ज्ञानोपलब्धि की पात्रता उनमें अभी नहीं आयी है, जबकि नरेन्द्र ज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त उच्चअधिकारसम्पन्न थे। श्रीरामकृष्ण ने कई बार कहा था, "किसी को देखता हूँ वह दस दलयुक्त पद्म है, तो कोई पन्द्रह दलयुक्त, बहुत हुआ तो कोई बीस दलवाला पद्म दिखायी देता है, पर नरेन्द्र तो मानो सहस्रदल कमल है।"

इसका मतलब यह कि अध्यात्म के क्षेत्र में हम-जैसे तुच्छ अधिकारी लोग थोडा ज्योति-दर्शन या कोई रूप-दर्शन से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, पर उच्च साधक के लिए ये बातें गौण हैं। वह तो परमात्मा के स्वरूप-ज्ञान के अलावे और किसी से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। पर ऐसी पात्रता तो सबमें होती नहीं। साधारण जनता की प्रवृत्ति छोटे छोटे फलों की ओर अधिक होती है। लोग कामना

करते हैं कि मुझे नौकरी लग जाए, मेरी पदोन्नति हो जाए, मैं परीक्षा में पास हो जाऊँ, मुझे व्यापार में सफलता मिले, आदि आदि। इन लोगों को परलोक और स्वर्ग के सुख भी दूर के मालूम होते हैं। उनमें इतना धैर्य नहीं होता कि मरने के बाद स्वर्ग में सुख पाने की कामना से कोई अनुष्ठान आदि कर सकें। फिर मोक्ष-जैसे परम पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न करने की क्या बात ?

तो, इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकों में सकाम भक्त की बात कही गयी। इससे पूर्व निष्काम भक्त का वर्णन था, जो भगवान् के जन्म और कर्म की दिव्यता को जानकर उनकी शरण चला जाता है और उन्हें ही प्राप्त हो जाता है। पर ऐसे साधारण भक्तों की बात भी बतानी थी, जिनमें कामनाएँ होती हैं, जो दुनियादारी में फँसे होते हैं, जो संसार के भोगों के साथ साथ ईश्वर को भी चाहते हैं। ऐसे ही भक्तों की बात विवेच्य दो श्लोकों में बतायी गयी है। विभिन्न देवी-देवताओं को पूजनेवाले ये सकाम भक्त भी अन्त में उसी राजपथ पर आ मिलेंगे, जो भगवान् की ओर ले जाता है। इनकी पूजा पहले कामनायुक्त होगी। कामना की पूर्ति से देवता के प्रति भक्ति और विश्वास बढ़ेगा--उनके प्रति एक प्रकार की आत्मीयता का भाव आएगा। फिर कभी कामना नहीं भी पूरी होगी। इससे देवता के प्रति कुछ आक्रोश पैदा होगा, पर इस आक्रोश से उनके प्रति निकटता का भाव और बढ़ेगा। पुनः किसी कामना की पूर्ति हुई, तो देवता के और अन्तरंग हो गये। फिर असफलता का झटका लगा। तो, इस प्रकार 'शॉकथेरेपी' (झटका-चिकित्सा) के द्वारा देवता हमारे भीतर ज्ञान का क्रमशः उन्मेष

करते हैं और अपने प्रकृत स्वरूप भगवान् वासुदेव की ओर हमें ठेलते रहते हैं। इस सन्दर्भ में गौतमी की कथा स्मरण आती है।

उसका एकमात्र पुत्र कालकवलित हो गया। गौतमी उसके शव से लिपटकर विलाप करने लगी। वह संस्कार के लिए शव को छोड़ नहीं रही थी। किसी ने आकर उससे कहा, "अरी गौतमी, भगवान् तथागत पास ही हैं। वे तो बड़े चमत्कारी महापुरुष हैं। तू अपने मृत बेटे को उनके पास ले जा। वे उसे जीवित कर देंगे।" सुनकर गौतमी में आशा का संचार हुआ। वह अपने बेटे के शव को लेकर भगवान् बुद्ध के पास पहुँची और रो-रोकर उनसे अपनी आर्ति निवेदित की—"भन्ते, यह मेरा इकलौता पुत्र है? इसके बिना मैं जीवित नहीं रह पाऊँगी। आप कृपा करके इसे जीवन-दान देकर मुझे भी जीवन-दान दें।" बुद्ध ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "गौतमी, मैं तुम्हारे पुत्र को अवश्य जीवन-दान दूँगा, पर एक शर्त है, तुम किसी घर से सरसों के तीन दाने ले आओ।' गौतमी में आशा का ज्वार उमड़ पड़ा। अपने पुत्र के शव को भगवान् बुद्ध के संरक्षण में छोड़ वह सरसों के दाने ले आने के लिए लपकी। बुद्ध ने सावधान कर दिया, "पर गौतमी, देखना ये दाने ऐसे घर से हों, जहाँ कभी किसी की मृत्यु नहीं हुई है।" किन्तु इससे गौतमी की आशा दमित नहीं हुई। उसने एक घर में पहुँचकर सरसों के तीन दाने चाहे। दाने हाथ में ले उसने गृहस्वामिनी से पूछा, "बहिन, अच्छा यह तो बताओ तुम्हारे यहाँ कभी किसी की मौत तो नहीं हुई?" "क्या पूछती हो, बहिन? एक-दो मौतें होतीं तो गिनाती,

इतनी मौतें हुई हैं कि कहाँ तक गिनाएँ ! अभी थोड़े ही दिन पहले मेरा एक लड़का चल बसा।" गौतमी का चेहरा बुझ गया। उसने सरसों के दाने लौटा दिये। वह आशा लेकर एक के बाद एक न जाने कितने घर गयी और आशा का दीप बुझाकर लौटी। उसे एक घर ऐसा न मिला, जहाँ मौत न हुई हो। पर इससे उसके भीतर ज्ञान का दीप प्रज्वलित हो उठा। उसका मुखमण्डल ज्ञान की आभा से दीप्त हो उठा और नेत्र तृप्ति की चमक से तेजस्वी हो उठे।

उसे देखते ही बुद्ध बोले, "तुम्हारा चेहरा देखकर लगता है, गौतमी, कि तुम दाने ले आयी हो। लाओ, दो, मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर देता हूँ !"

गौतमी तथागत के चरणों पर गिर पड़ी। "भन्ते !" वह कृतज्ञताविगलित स्वर से बोली, "आपने मेरे मुँदे नेत्र खोल दिये हैं। आपने गौतमी को समझा दिया है कि मृत्यु ही प्राणी की नियति है। मुझे कोई घर ऐसा न मिला, जहाँ मृत्यु का खेल न हुआ हो। आपने यह ज्ञान देकर मुझे जीवन दे दिया है !"

यह झटका-चिकित्सा है, 'शॉक-थेरेपी' है। देवता की आराधना से कभी कामना पूर्ण होती है, कभी नहीं होती। और व्यक्ति इसी प्रक्रिया में से गुजरकर जीवन के महत्तर सत्यों को समझने की पात्रता अर्जित करता है।

कुछ लोग 'देवता' शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ करते हैं। 'दिव्' धातु से देव शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है चमकना, प्रकाश देना। अतः देवता वह है, जो प्रकाश देता है। इन्द्रियाँ भी अपने विषयों को प्रकाशित करने के कारण देवता हैं। देवता का ऐसा अर्थ करने से बारहवें श्लोक का अर्थ यों होगा--'कर्म में सफलता की इच्छा

करते हुए मनुष्य इस लोक में इन्द्रियों की उपासना करते हैं, क्योंकि मनुष्य-लोक में कर्म से मिलनेवाली सिद्धि जल्दी हासिल होती है।' इन्द्रियों के माध्यम से ही सारे कर्म होते हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन को ही लेकर सारा संसार है। भगवान् तो अतीन्द्रिय हैं, इन्द्रियों की पकड़ से परे हैं। पर इन्द्रियों के द्वारा कर्म की सिद्धि तुरन्त अनुभव में आती है। मुझे रसगुल्ला खाने की वासना है। रसनेन्द्रिय का रसगुल्ले से संयोग-रूप कर्म मेरी इस वासना को पूर्ण कर देता है। इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के साथ मनोनुकूल संयोग होने मात्र से मनुष्य की कामना चरितार्थ होती है। इसी को यहाँ कर्म की सिद्धि कहा। तो, तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य तो इन्द्रियतृप्ति चाहता है और यह तृप्ति कर्म ही प्रदान करता है, इसीलिए वह इन्द्रियों की भजना करता है, अतीन्द्रिय ईश्वर या आत्मतत्त्व की ओर उसका मन नहीं जाता। यदि अनधिकारी व्यक्ति को ऊँचा ज्ञान दे दिया जाय, तो वह उसकी धारणा नहीं कर पाता।

दक्षिणेश्वर का कालीमन्दिर निर्मित करनेवाली रानी रासमणि के दामाद थे मथुरानाथ विश्वास। उनकी श्रीरामकृष्ण के प्रति गुरुवत् श्रद्धा थी। वे तो घोर संसारी थे, पर उनका ऐसा महत् भाग्य था कि श्रीरामकृष्ण को उन्होंने एक अत्यन्त निकट आत्मीय के रूप में पाया था। वे श्रीरामकृष्ण को 'बाबा' कहकर पुकारते। वे देखते कि कितने लोग श्रीरामकृष्ण के पास आकर भक्ति-भाव पा रहे हैं। एक दिन उनमें भी इच्छा जागी कि मुझे भी तो कुछ भक्ति-भाव हो। वे श्रीरामकृष्ण के पास गये और शिकायत के स्वर में बोले,

"बाबा, तुम्हारे पास कितने लोग आकर भक्ति-भाव प्राप्त करते हैं और मैं तुम्हारा ऐसा सेवक क्या इस सब से वंचित रह जाऊँगा ?" श्रीरामकृष्ण हँसकर बोले, "भाई, तुम भोगादि लेकर तो मजे में ही हो, फिर भावादि के चक्कर में क्यों पड़ रहे हो ? वह तुम्हारे अनुकूल न होगा।" मथुरबाबू ने सोचा कि बाबा टरका रहे हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पैर पकड़ लिये। श्रीरामकृष्ण ने अपने को छुड़ाते हुए कहा, "ठीक है, भाई, जैसी माँ की मर्जी होगी होगी।"

कुछ ही दिन बाद मथुरबाबू को भावावेश हो आया। नेत्रों से अनवरत अश्रु झरते रहे, दुनिया के काम-काज से मन उठ गया, मुखमण्डल और छाती आरक्त रहने लगी। कुछ ही समय इस अवस्था में रहने के बाद वे श्रीरामकृष्ण के पास दौड़े आये और कहने लगे, "बाबा, यह भाव तुम्हें ही मुबारक हो, यह मुझे नहीं चाहिए। मेरी सारी दुनिया उजड़ी जा रही है ? दया करके मुझे ठीक कर दो।" श्रीरामकृष्ण उनकी छाती पर हाथ फिराते फिराते बोले, "मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि यह तुम्हारे अनुकूल न होगा, पर तुम थे कि जिद किये जा रहे थे।" और उनके दिव्य स्पर्श से मथुरानाथ का भाव धीरे धीरे शान्त हो गया।

इस प्रसंग को उठाने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने मानसिक धरातल पर रहकर ही काम कर सकता है। उसे वही करना चाहिए, जिसकी उसमें पात्रता है। दूसरे को देखकर उसे छलाँग लगाने की अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। विवेच्य दोनों श्लोकों से यही तात्पर्य ध्वनित होता है। ○

ठाकुर[1] के नरेन[2] और नरेन के ठाकुर (१)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी बुधानन्दजी रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के सचिव थे। उनका प्रस्तुत लेख मूल बँगला में सर्वप्रथम 'उद्बोधन' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। लेख की लोकप्रियता देख उसे बाद में पुस्तकाकार में भी प्रकाशित किया गया। हिन्दी रूपान्तरकार हैं बेलुड़ मठ के स्वामी सत्यरूपानन्द। यह लेख तीन किस्तों में प्रकाशित होगा। प्रस्तुत लेख उसकी पहली किस्त है।——स०)

(एक)

'ईश्वर ही सब कुछ है'—यह श्रीरामकृष्ण का कथन है। इस जगत् का सब कुछ उनका ही होना है। वे अणु हुए हैं, फिर वे ही विराट् हुए हैं और बीच का सब कुछ वे ही हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उनका होना न हो।

इस विश्व का सब कुछ होने के बीच उनका एक विशेष होना भी है। यह विशेष होना ही है अवतार। गिरीशबाबू[3] की भाषा में अवतार का 'सब कुछ नियम-बाह्य है'। नियम मानने से अवतार मानना ही नहीं बनता। इसीलिए इन्द्रजाल चाहिए। वह इन्द्रजाल ही 'माया' है। बाहर से देखने में तो वे हमारे ही समान हैं, किन्तु भीतर का सार है साक्षात् स्वयम्भू। ऊपर से मनुष्य के समान ही आचरण है, हँसना-रोना, भूख-प्यास, ठोकर लगकर गिरने से हाथ का टूटना——सब कुछ

---

१. श्रीरामकृष्ण के भक्त उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करते थे।

२. नरेन्द्र का संक्षिप्त रूप : स्वामी विवेकानन्द का संन्यास-पूर्व नाम।

३. श्री गिरीशचन्द्र घोष बंगाल के एक लब्धप्रतिष्ठ नाटककार एवं कवि थे। परवर्ती काल में वे श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख भक्त हुए।

मनुष्य-जैसा ही है, किन्तु भीतर से हैं ज्ञानीश्वर। हूबहू सब कुछ मनुष्य का ही अनुकरण है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य उनका अनुसरण करेगा कैसे?

उनके जिस होने को हम 'रामकृष्ण' नाम से जानते और मानते हैं, उनके अन्तस् की विशेष अभिव्यक्ति क्या है? साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश और धर्म-संस्थापना——यह इस बार उनका मुख्य उद्देश्य नहीं लगता। नर के लिए नारायण के सर्वशक्तिमान् प्रेम का सन्देश देना ही श्रीरामकृष्ण के प्राणों की विशेष व्यंजना प्रतीत होती है। स्वामी विवेकानन्द ने 'खण्डन भवबन्धन' स्तोत्र[४] में ठाकुर का जो सीमाहीन भावरूप चित्रित किया है, उसमें एक बात कही है——'चिर-उन्मद प्रेमपाथार' (प्रेम के चिर-उन्मत्त समुद्र)। इन कुछ शब्दों में स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के हृदय की गूढ़ वेदना को साधन-सापेक्ष सत्य के रूप में जनसाधारण के सामने रखा है। और जिन्होंने इस प्रेम को वाणी का रूप दिया है वे विवेकानन्द स्वयं ही नर के लिए नारायण के प्रेम की एक अत्यन्त आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति और उसके सन्देशवाहक हैं। जब तक हम ईश्वर के विशेष होने के तत्त्व को नहीं मानते, तब तक इस बात की ठीक धारणा नहीं हो पाती कि वे नर के प्रेम में पड़कर आये। और आकर उन्होंने कितना प्रेम किया, यह तो सबकी आँखों के सामने ही हुआ। आदि-अन्तहीन मूल से प्रेमप्रवाह के अवतीर्ण

४. स्वामी विवेकानन्द द्वारा रचित श्रीरामकृष्ण की महिमा प्रतिपादित करनेवाला स्तोत्र। यह स्तोत्र रामकृष्ण मठ-मिशन के केन्द्रों में सान्ध्य-आरती के समय लय-ताल के साथ गाया जाता है।

होने का प्रमाण हमें उनकी आत्मस्वीकृति से ही मिलता है—"जो राम, जो कृष्ण, वही इस देह में रामकृष्ण।"[५]

वे आये क्यों ? प्रेम के खिंचाव से। शिव बने जीव। इसमें प्रेम की क्या आवश्यकता थी ? इस बात का उत्तर कौन देगा ? 'चिर-उन्मद प्रेमपाथार' जो हैं। पर नर के लिए नारायण के प्रेम का यह आदिकाण्ड हमारी दृष्टि से एकदम ओझल ही रह जाता है। तथापि श्रीरामकृष्ण 'जीव-जैसा' रूप धारण कर ईश्वर-प्रेम में उन्मत्त हुए वह तो हमारी आँखों के सामने ही हुआ। उस उन्मत्तता को शब्दों में ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देने के लिए 'चिर-उन्मद प्रेमपाथार' के अतिरिक्त क्या और किसी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है ?

वैधीपूजा अधिक दिनों तक नहीं चली। नियम-कानून में न बँधना मज्जागत जो था। तो कैसे चलती ! उनके मन में प्रश्न उठा—भवतारिणी क्या केवल काले पत्थर की प्रतिमा है, या बच्चे की माँ भी है ? और माँ ! माँ ! रटते हुए वे प्रेम में ऐसे उन्मत्त हुए कि पत्थर की प्रतिमा भी पिघल उठी। एक बार उन्मत्त हो जाने पर पता चला कि इस रोग से छुटकारा नहीं है, क्योंकि वे 'चिर-उन्मत्त' जो हैं। नाना भावों से यह लीला-आस्वादन निरन्तर चलने लगा। दिन-रात कैसे बीत जाते इसका पता न चलता। इस झंझा में देहात्म-बोध कब का उड़ गया। वह उन्मत्तता निर्विकल्प समाधि में जाकर स्थिर हुई। लीला नित्य में पहुँचकर मानो निश्चल पत्थर हो गयी। ऐसा लगा इस बार आँधी

५. स्वामी सारदानन्द : श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, द्वि. सं., पृ. १२२।

शायद शान्त होगी । किन्तु कहाँ, फिर से एक नवीन झंझा उठी । भवतारिणी के आदेश से इस बार लीला और नित्य दोनों किनारों को छूते हुए रहने की बात आयी । इसी को कहते हैं 'भावमुख में रहना '।

पहले 'जीव-जैसे' वेश में जब वे ईश्वर-प्रेम में उन्मत्त हुए थे, तब दिन ढलने पर दारुण यंत्रणा से धरती पर अपना मुख रगड़ते और कहते––"माँ ! एक दिन और बीत गया पर तेरे दर्शन नहीं हुए !" इस यंत्रणा की तुलना नहीं हो सकती । साधना के अन्त में अपने ईश्वरत्व-बोध में आरूढ़ हो वे पुनः प्रेमोन्मत्त हुए । वैसी ही आर्त पुकार अब भी है, पर इस बार वे वेदना से धरती पर मुँह नहीं रगड़ रहे हैं, अपितु इस बार तो सन्ध्या-आरती के समय कोठी[६] की छत पर से शून्य आकाश के एकान्त में अन्तर का विलखता-आमंत्रण बिखेर रहे हैं––"अरे ! तुम सब कहाँ हो ? आओ ! तुम लोगों के विना और नहीं रह पा रहा हूँ !" 'जीव-जैसे' रूप में बारह वर्षों तक प्रेम का जो उद्दाम प्रवाह भगवान् की ओर प्रवाहित हो रहा था, इस बार वह मुड़ चला मनुष्य की ओर । उसमें भी वही क्षोभ था, वही हृदयविदारक वेदना थी, वैसा ही अश्रुप्रवाह था और न देख पाने की वैसी ही यंत्रणा थी । और प्राप्ति में मुख पर वही आनन्द से उद्दीप्त हास्य था ।

हम जब 'भगवदोन्मुख' तथा मनुष्योन्मुख कहते हैं, तब समझते हैं कि ये दोनों विपरीत दिशाएँ हैं । किन्तु जिन्होंने यह जान लिया है कि वे ही सब कुछ हैं, उनके

---

६. दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के बाहर के प्रांगण में स्थित कोठी, जिसमें मथुरबाबू कभी-कभी आकर रहा करते थे ।

सर्वव्यापी प्रेम में कोई दिशाभेद, कोई वस्तुभेद नहीं होता। किन्तु हमारी अज्ञानजनित व्यावहारिक दृष्टि में दोनों ही दिशाएँ होती हैं, इसीलिए हमें लगता है, मानो साधना के शेष में रामकृष्ण के प्रेम का मोड़ फिर गया।

(दो)

श्रीरामकृष्ण के भगवदोन्मख प्रेम के मानक वे स्वयं हैं। उस प्रेमप्रवाह में पूरी तरह प्लावित होकर उन्होंने पाया कि वे स्वयं ही अपने साध्य हैं। अपने प्रति उनका यह जो प्रेम है, वह भी स्वयं को दे देने के लिए ही है। साधन किये बिना साध्य को देने पर कौन उसका मूल्य समझेगा? उनके यह सब होने के बीच जो विशेष होना है, वह स्वयं को विशेष रूप से दे देने के लिए ही है।

यह जल्पना लेकर ही तो आना हुआ।

अखण्ड के राज्य में ध्यानमग्न ऋषि के गले में कोमल शिशु का बाहु डालकर प्रेमभरी वाणी से कहना—"मैं जा रहा हूँ, तुम भी आओ,"[७] यही तो प्रदर्शित करता है। प्रेम के बल पर अखण्ड में लीन चैतन्यपुरुष को वे

---

७. श्रीरामकृष्णदेव ने एक दिन देखा था कि उनका मन अखण्ड ज्योतिर्लोक में पहुँच गया है। वहाँ सात ऋषि समाधिमग्न बैठे हैं। उस अखण्ड ज्योति में से एक शिशु प्रकट हुआ। उसने उन सात ऋषियों में से एक के गले में हाथ डालकर कहा—"मैं जा रहा हूँ, तुम भी आओ।" यही दिव्य शिशु श्रीरामकृष्णदेव के रूप में अवतरित हुए तथा वे ऋषि, जिनके गले में शिशु ने हाथ डाला था, स्वामी विवेकानन्द के रूप में जन्मे।

धराधाम पर उतार लाये क्यों ? जीवों के लिए अपने ईश्वर-प्रेम के अमानतदार के रूप में उन्हें छोड़ जाएँगे ऐसा सोचकर । प्रेम के आकर्षण से उतर आये उस नर-ऋषि नरेन को उन्होंने प्रथम दर्शन में ही पहचान लिया ।

प्रथम दिन से ही यह जानकर कि यह नरेन कितना दुर्लभ धन है, वे उत्कण्ठित रहने लगे । दक्षिणेश्वर में नरेन्द्र जिस दिन पहली बार आया, उस दिन उसे आड़ में ले जाकर वे अश्रुपूर्ण नयनों से उसकी स्तुति करने लगे––"प्रभु, मैं जानता हूँ तुम वही पुरातन ऋषि नररूपी नारायण हो । जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए तुमने पुनः शरीर धारण किया है ।"

विश्वनाथ दत्त का पुत्र 'बिले' [८] तो एकदम अवाक् हो उठा । सोचने लगा––अरे, यह मैं किसे देखने आ गया ! यह तो एकदम पागल लगता है !

पागल तो थे ही । नरेन्द्र तब भला यह कैसे जानता कि वह भी ईश्वरीय योजना के अन्तर्गत एक वस्तु है । काली-साधना में एक समय ठाकुर ने जिस एकाग्रता, उद्यम और तन्मयता का प्रयोग किया था, नरेन्द्र-साधना में भी उन्होंने प्रायः वही किया । भवतारिणी के लिए वे एक समय जितना रोये थे, कायस्थ-लड़के नरेन्द्र के लिए उससे कम नहीं रोये । यदि 'माँ ! माँ !' करते हुए कितनी ही उनींदी रातें यातना में बिता दी थीं, तो नरेन-नरेन रटते हुए भी सारी रात अँगौछा निचोड़ने

८. विश्वनाथ दत्त : स्वामी विवेकानन्द के पिता का नाम । 'बिले' स्वामीजी के बचपन का घरेलू नाम ।

की तरह हृदय के निचौड़े जाने का कष्ट अनुभव किया था।

नरेन्द्र को न देख पाने पर उन्हें इतनी अधिक पीड़ा क्यों होती, यह साधारण भक्तगण ही क्यों, नरेन्द्र भी स्वयं शुरू में ठीक से समझ पाये थे ऐसा नहीं लगता। इसीलिए तो एक दिन तीव्र भर्त्सना करते हुए नरेन्द्र ने कहा था––"इतना 'नरेन नरेन' करने से अन्त में भरत राजा के समान गति होगी!" भक्तों में तो कोई अत्यन्त असन्तोष दर्शाते हुए कह उठा था––"यह क्या, केवल 'नरेन खाओ, नरेन खाओ'! हम क्या गंगा में बहकर आये हैं?" हाजरा बरामदे में बैठे बैठे लड़कों के प्रति उनकी आसक्ति को ले टीका-टिप्पणी किया करता। किन्तु जिस दिन उसने देखा कि ठाकुर मुहूर्त मात्र में अनासक्त हो ऐसी समाधि में मग्न हो सकते हैं कि पृथ्वी एक ओर धरी रह जाती है, उस दिन हाजरा की समझ में भी यह बात आयी थी कि इनकी आसक्ति का भी कोई दिव्य रहस्य अवश्य है। समदर्शी ठाकुर क्योंकर नरेन्द्र के विषय में अत्यधिक असमदर्शी हुए थे, यह उनके तिरोधान के बहुत बाद लोगों ने समझना शुरू किया था।

शैशवकाल से ही निर्भीक रामकृष्ण के जीवन में मात्र एक बार सचमुच भय दिखा था। वह भय था नरेन्द्र को लेकर। उस भय को स्वयं उन्होंने ही गाकर व्यक्त किया था––

'कथा बोलते डराई, ना बोलतेओ डराई!
(आमार) मने सन्द हँय––पाछे तोमा धने हाराई, हा
राई।

आमरा जानि से मन तोर, दिब्रो तोके सेई मन्तर—
एखन मन तोर; आमरा जे मन्त्रे बिपदे तरी तराई ।'
——बात कहने में डरता हूँ, न कहने में भी डरता हूँ, मेरे मन में सन्देह होता है कि कहीं मैं तुम्हें खो न बैठूँ ! हमें पता है कि वह मन तेरा है, तुझे ऐसा मंत्र देंगे, जिस मंत्र के द्वारा हम लोग विपत्ति में नौका किनारे लगाते हैं ।

विपत्ति में नौका किनारे लगाने का मंत्र इसके सिवा और कुछ नहीं था कि 'कामिनी-कांचन' का त्याग किये किये बिना कुछ नहीं होगा ।' क्या नहीं होगा ? जिसके लिए अखण्ड के राज्य से खण्ड के राज्य में आना हुआ है, वह नहीं होगा । नरेन्द्र के प्रति आसक्ति उसको त्याग-मंत्र में दीक्षित करने के लिए ही है ।

समदर्शी होने के कारण ही नरेन्द्र से असमदर्शी के समान प्रेम किया । उन्होंने जान लिया था कि नरेन्द्र के पास वे जो भी थाती रखेंगे, वह सब लोगों के पास पहुँच जाएगी । सबको अपने ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए ही तो नरेन्द्र को विशेष प्यार करना पड़ा था । यही समदर्शन का परिचय है । आम खाकर जो मुँह पोंछकर बैठा रहे, रसगुल्ला लाने को कहने पर जो रस चूसकर ले आये, इस प्रकार के आधार को ईश्वर-प्रेम के वितरण का भार क्या दिया जा सकता है ?

जीवों के प्रति उनके प्रेम की तीव्रता इतनी थी कि विलम्ब सहा नहीं जा रहा था । तभी तो नरेन्द्र दक्षिणेश्वर में जिस दिन पहली बार अकेले आये, उस दिन

शाम्भवी दीक्षा[१] द्वारा उनको उन्होंने सब कुछ देना चाहा था, किन्तु नरेन्द्र रो पड़े थे—"अजी, यह तुम मेरे साथ क्या कर रहे हो ? घर पर मेरे माँ-बाप जो हैं !" फिर देना हुआ नहीं ।

माया नरेन्द्र को कभी बाँध नहीं पायी, किन्तु माया के राज्य में आकर बिना कुछ नजराना दिये क्या पार पाया जा सकता है ? फिर बिना दिये पाना देखने में भी अच्छा नहीं लगता । मानो कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है । इसीलिए ठाकुर अपने नरेन को उनकी दूसरी दक्षिणेश्वर-यात्रा के दिन ही जो देना चाहते थे, वही पाँच साल बाद काशीपुर में देकर वे फकीर हो निश्चिन्त हुए थे ।

ज्ञान-विचार के छुरे की धारवाले पथ को ही नरेन्द्र ने अपना पथ समझ लिया था । इसीलिए महामाया को वे विशेष मानते न थे । उनका यह भाव था कि 'वह ठाकुर की माँ है' । किन्तु एक महानिशा में गंगा में डूबने के लिए घुटना-भर पानी भी न पा सकने के कारण ज्ञानी तोतापुरी जिस प्रज्ञान के अधिकारी हुए

---

१. शाम्भवी दीक्षा में श्रीगुरुदेव के दर्शन, स्पर्शन या सम्भाषण (प्रणामादि) मात्र से ही तत्काल जीव का ज्ञानोदय हो जाता है । देखें, 'लीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, द्वि. सं., पृ. ४१६-१७ ।

थे[१०], संसार-भँवर में डुबकी खाकर नरेन्द्र के साथ भी वैसा ही हुआ था।

नरेन्द्र ने आकर ठाकुर को पकड़ा, जिससे ठाकुर अपनी माँ से कहकर नरेन्द्र के संसार की कुछ व्यवस्था कर दें। इस परम सुयोग को ठाकुर ने भी निर्ममता से जकड़कर पकड़ा। कहा--"तू मेरी माँ को मानता नहीं है इसीलिए तुझे यह सब कष्ट है!" कितने प्रेम की कितनी कठिन बात है। कहा--"मैं क्यों बोलने जाऊँ, तू जा न।" मानो नरेन्द्र को महामाया के एकदम भीतरी प्रकोष्ठ में ढकेल दिया। नरेन्द्र माँ के पास खड़े हो एकदम स्तम्भित हो गये--यह क्या, ये तो चिन्मयी हैं, जीती जागती हैं! बाहर के आघात दे नरेन्द्र को अपनी ओर उन्मुख कर माँ उनकी चेतना में एकदम सदैव के लिए अनुस्यूत हो गयीं। माँ की यह कैसी सर्वग्रासी करुणा थी!

नरेन्द्र ने जिस दिन काली को स्वीकार कर लिया,

---

१०. श्रीरामकृष्णदेव के अद्वैत वेदान्त के गुरु परमहंस तोतापुरी महाराज भी पहले माँ-काली को नहीं मानते थे। दक्षिणेश्वर के निवास-काल में एक रात उनके पेट में बहुत पीड़ा हुई। पीड़ा के कारण वे अपने मन को समाधि में लीन न कर पाये। सामने गंगा थी। तोतापुरीजी ने सोचा कि यह शरीर ही समाधि में बाधा उत्पन्न कर रहा है, अतः इसे गंगाजी में डुबोकर समाप्त कर देना चाहिए। यह सोच वे गंगा में उतरे तथा आगे बढ़ने लगे। गंगा का दूसरा किनारा आ गया, पर कहीं भी उन्हें घुटने से अधिक जल गंगा में नहीं मिला। वे पुनः अपने आसन पर लौट आये। तब उन्हें माँ-काली की महिमा का बोध हुआ और उन्होंने काली को मान लिया।

उस दिन ठाकुर का आनन्द समा नहीं रहा था। भक्तों के पास घोषणा करते फिरने लगे—आज नरेन्द्र ने काली को मान लिया ! यह काली को न मानना ही प्रमुख बाधा थी। नित्य को स्वीकार कर लीला को न मानने पर खड़े होने की जगह ही नहीं रहती। "आद्याशक्ति के रास्ता छोड़ देने पर तब कहीं ब्रह्मज्ञान होता है।" कारण यह कि लीलामयी होकर भी 'लीला-नाटक की डोर को काटनेवाली' भी वे ही हैं। अविद्याशक्ति होकर भी वे ही विद्याशक्ति हैं। वे 'विज्ञानदीपांकुरी', 'निगमार्थ-गोचरकरी' हैं। उन्होंने महापाश में बाँध रखा है। फिर वे ही 'मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी' हैं। काली को न मानने पर नरेन्द्र युगावतार के ईश्वर-प्रेम के संवहन के लिए यंत्ररूप न हो पाते। श्रीरामकृष्ण के मन में नरेन्द्र के प्रति भय के मूल में यही बात थी। काली को मान लेने पर नरेन्द्र के खो जाने का भय अब न रहा। अखण्ड के घर से आकर अब तक नरेन्द्र गृहविहीन थे। अब वे हो गये माँ के घर के लड़के। अब क्या चिन्ता थी ? विश्वजननी यह जो एक बार नरेन्द्र की चेतना पर सवार हुई तो सारे जीवन उतरने का नाम ही नहीं लिया। गरदन पकड़, हड्डियों में घुस, सोलहों आने काम करा लिया। उसके बाद क्षीरभवानी में लाकर यह दिखा दिया कि विवेकानन्द के बिना भी उनका

यह जगत् चलता है।[११] तात्पर्य क्या? यही कि कृपा-मयी लीलामयी भी हैं। जीवन के अवसानकाल में अपनी इस वीर सन्तान को उन्होंने अपने चरणों में पूरी तरह सर्मपित करा लिया और उससे माँ-माँ कहलाते हुए उसे भूलुण्ठित करा दिया। काली को मान लेने पर ही मानो ब्रह्म को नये रूप में पा लिया गया। यह न होने पर यह 'जीव-शिव'-मंत्र क्या इस प्रकार अनुभूति में पाया जा सकता था? ठाकुर ने जितनी बार 'जगत् मिथ्या' कहा है, उससे कहीं अधिक बार कहा है कि 'वे ही सब कुछ हुए हैं'। अरण्य के वेदान्त को प्रेमरस से सींच वे इस नवीन धर्म को मानव के कल्याण-भूमि पर लौटा ले आये।

नरेन्द्र ने चाहा था कि वे जगत् को भूलकर समाधि-भूमि पर ही आरूढ़ रहेंगे। धिक्कार के एक आघात से ठाकुर ने उनका यह सपना तोड़ दिया। आत्मानन्द में

११. स्वामी विवेकानन्द अपनी काश्मीर-यात्रा में जब क्षीरभवानी के मन्दिर में गये, तब उन्होंने देखा कि मुसलमान आततायियों ने अपने आक्रमण के समय मन्दिर को खण्डित कर दिया है। इस घटना का स्मरण कर स्वामीजी सोचने लगे कि उस समय के लोग कैसे थे जो मन्दिर की रक्षा न कर सके। यदि मैं उस समय होता तो प्राण देकर भी मन्दिर की रक्षा करता। स्वामीजी ऐसा सोच ही रहे थे कि उन्हें माँ-भवानी की भर्त्सना सुनायी पड़ी—'विधर्मियों ने मन्दिर तोड़ा तो उसमें तेरा क्या आया गया? मैं तेरी रक्षा करती हूँ कि तू मेरी रक्षा करता है!' यह सुनकर स्वामीजी स्तम्भित हो उठे तथा यह समझ लिया कि सब कुछ माँ की ही इच्छा से होता है।

मग्न होकर रहने का अधिकार नरेन्द्र का नहीं। वह तो साधारण साधक के लिए है। अखण्ड के घर से क्यों इतना परिश्रम करके उनको खींचकर लाना हुआ है, यह उद्देश्य ठाकुर क्षण-भर के लिए भी नहीं भूले। उन्होंने नरेन्द्र को किसी भी तरह संसारविस्मृत आत्माराम नहीं होने दिया। उन्होंने उनकी प्रबुद्ध चेतना को मनुष्य की ओर घुमा दिया। उन्हें नित्य में आरूढ़ कर लीला में बाँध रखा। 'जीव-शिव'-मंत्र देकर ही ठाकुर निश्चिन्त नहीं हो गये, 'खाली पेट में धर्म नहीं होता' यह मत्र भी नरेन्द्र के हृदय में अच्छी तरह अंकित कर दिया। फिर एक क्रान्तिकारी प्रश्न किया --"प्रतिमा में जब पूजा हो सकती है तब जीवित मनुष्य में क्यों नहीं ?" मनुष्य को 'महतो महीयान्' कर उसे ही दिव्य धाम की वस्तु बना दिया, कहा कि "ईश्वर की इच्छा से उनकी सारवस्तु मनुष्य के भीतर से प्रकट होती है।" सनातन धर्म में नवीन साधना-पथ प्रवर्तित किया--"लकड़ी को घिसने पर जैसे आग प्रकट होती है, भक्ति का जोर रहने पर मनुष्य में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं।" नरेन्द्र से कहा था कि तुझे माँ का कार्य करना होगा। यही उनका दिशा-संकेत था।

निरोधान के दो दिन पूर्व अपनी सभी अनुभूति और शक्ति का ऐश्वर्य नरेन्द्र को देकर वे 'फकीर' हो गये। एवंविध फकीर होने का अर्थ यह था कि ठाकुर नरेन्द्र में अनुस्यूत हो गये--नरेन्द्र का भिन्न अस्तित्व और न रहा। इसीलिए उन्होंने नरेन्द्र को अपनी आत्मा कहकर घोषित किया। ○ (क्रमश:)

यथार्थ धर्म

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने मैसूर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में १५ जून, १९७१ ई० को अँगरेजी में जो व्याख्यान दिया था, वही यहाँ पर हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। रूपान्तरकार हैं नागपुर के रामकृष्ण मठ के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य।--स०)

'धर्म' शब्द से क्या अभिप्राय है? स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--अनुभूति ही धर्म है। अन्यत्र 'राजयोग' ग्रन्थ में वे कहते हैं--"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्तः प्रकृति को वशीभूत कर आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, भक्ति, मनोनिग्रह या ज्ञान--इनमें से एक, अधिक या सभी उपायों के द्वारा अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। यही सम्पूर्ण धर्म है; मत-वाद, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाकलाप इसके गौण अंग मात्र हैं।" धर्म की प्रथम परिभाषा के अनुसार हमें ईश्वरानुभूति करनी होगी और इसी को यथार्थ धर्म कहेंगे। द्वितीय परिभाषा में स्वामीजी कहते हैं कि अपने अन्तर्निहित देवत्व का विकास करना ही धर्म है। ईश्वरत्व ही हममें से प्रत्येक का वास्तविक स्वरूप है और उसकी अभिव्यक्ति ही जीवन का लक्ष्य है। अतः सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि मनुष्य-देह पाने पर सर्वप्रथम कर्तव्य है भगवान्-लाभ, बाकी चीजें गौण हैं। स्वामीजी ने भी वही बात कही। हमारे अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति को उन्होंने

जीवन का उद्देश्य बतलाया और कहा कि ज्ञान-कर्म आदि चार मार्गों में से किन्हीं एक, दो या सबका आश्रय लेकर हमें मुक्त हो जाना होगा।

मन्दिर, मतवाद और अनुष्ठान आदि को स्वामीजी ने धर्म का गौण अंग कहा; परन्तु आम तौर पर हम धर्म के गौण अंगों, यथा——मन्दिर जाना, कोई व्रत-अनुष्ठान या उपवास करना आदि को ही धर्म समझ बैठते हैं। हम इन्हीं को महत्त्व देते हुए धर्म का सब कुछ मान बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि चरम सत्य की धारणा और उसकी उपलब्धि करने का प्रयास ही धर्म है। फलस्वरूप कभी-कभी तो हम इतने संकीर्ण हो जाते हैं कि जो लोग हमसे भिन्न उपायों के द्वारा धर्माचरण या सत्योपलब्धि का प्रयास करते हैं, उन्हें हम अधार्मिक समझ बैठते हैं। हम लोगों का सौभाग्य है कि बीच बीच में पृथ्वी पर ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं, जो हमें 'धर्म' शब्द का यथार्थ तात्पर्य समझा जाते हैं तथा ईश्वरोपलब्धि का राजमार्ग दिखा जाते हैं। इस प्रकार वे धर्म के सम्बन्ध में फैले कुसंस्कारों और भ्रान्त-धारणाओं के रूप में संचित धर्म-ग्लानि को दूर कर हमारे सामने शास्त्रों की उचित व्याख्या रख जाते हैं। उनके जीवन तथा वाणी में शास्त्रों की सच्ची व्याख्या मुखरित हो उठती है, शास्त्रों की दुर्बोध बातें स्पष्ट हो उठती हैं और तब हमें पता चलता है कि धर्म किसे कहते हैं। एक बार भी जब इस तरह के कोई महापुरुष हमें मिल जाते हैं, तो हम धर्म के नाम पर स्वेच्छाचार करनेवालों के द्वारा दिग्भ्रमित नहीं हो पाते।

स्वामीजी के कथनानुसार पूर्वोक्त चार मार्गों में

से किसी का भी अवलम्बन कर मुक्त होना ही धर्म का सार-सर्वस्व है। अब प्रश्न उठता है—किससे मुक्त होना ?—बन्धन से। हमारे बन्धन का क्या स्वरूप है ? आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र पर अपने प्रसिद्ध भाष्य में कहते हैं—"आत्मा और अनात्मा, चैतन्य और जड़ की प्रकृति प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर-विरोधी हैं, तथापि हम आत्मा और अनात्मा को मिला डालते हैं। आत्मा का धर्म अनात्मा पर और अनात्मा का धर्म आत्मा पर आरोपित कर हम कहते हैं—'मैं इस कमरे के अन्दर हूँ। मैं भोग कर रहा हूँ। मैं अज्ञानी हूँ।' आदि। जब मैं स्वरूपतः असीम आत्मा हूँ, तब मैं इस कमरे के भीतर कैसे सीमाबद्ध रह सकता हूँ ? शरीर को ही 'मैं' समझ बैठने के कारण हम कहते हैं कि मैं कमरे में हूँ। ठीक इसी प्रकार मन के साथ एकात्म-बोध हो जाने के कारण ही हम सुख-दुःख आदि भावों से ग्रस्त होकर अपने को सुखी या दुःखी समझते हैं। इस प्रकार हम लोग अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को अनात्मा के साथ एक समझ, अनात्मा को ही आत्मा मानकर बन्धन में पड़े हुए कष्ट उठा रहे हैं। अज्ञान के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ है। अज्ञान ने हमारे ज्ञान को ढँक रखा है, इसीलिए हम यह दुःखभोग कर रहे हैं।

अब सवाल उठता है कि इस बन्धन से मुक्त होने का उपाय क्या है ? धर्मजीवन प्रारम्भ करने के लिए हमारी पहली आवश्यकता है वैराग्य या त्याग का भाव। इस वैराग्य की साधना कैसे की जाय ? यह साधना सत्-असत् विचार के द्वारा ही सधती है। इस विचार के

फलस्वरूप हम जान सकते हैं कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है। जो वस्तु असत्य और अनित्य है, उसका कोई मूल्य नहीं। एकमात्र सत्य ही हमें स्थायी शान्ति प्रदान कर सकता है। हमें यह जान लेना चाहिए कि इस जगत् का सब कुछ दुःखपूर्ण है। यहाँ वास्तविक सुख-जैसा कुछ भी नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्"।* जब इस दुःखपूर्ण जगत् में तुम्हारा जन्म हुआ है, तो मेरा भजन करके इस दुःखरूपी बन्धन से मुक्त हो जाओ। बुद्धदेव ने भी यही बात कही। उन्हें भी वैराग्य हुआ था। एक दिन जब वे नगर में भ्रमण करने को निकले, तो मनुष्य का रोग, उसके बुढ़ापे का कष्ट तथा उसकी मृत्यु उनकी दृष्टि में आयी। यह सब देख उनका मन त्याग के भाव से भर उठा। गीता भी जीवन के दुःखमय पक्ष की ओर आँखें खुली रखने का उपदेश देती है—"जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।"† हमें यह समझना ही होगा कि यह जीवन असार है। जन्म से ही मानव दुःख, व्याधि और वृद्धावस्था से कष्ट पाता रहता है और अन्ततोगत्वा काल के गाल में समा जाता है। इस प्रकार जीवन दुःखमय है। हाँ, जीवन में यदा-कदा सुख के भी दर्शन मिल जाते हैं, परन्तु जीवन का अधिकांश दुःखपूर्ण ही है। इस तरह विचार-पूर्वक हमें देखना होगा कि इस जगत् से आसक्त रहने में हमें कोई लाभ है या नहीं। उपनिषद् में लिखा है कि परलोक यानी स्वर्ग का सुख भी स्थायी नहीं है। यज्ञादि

* गीता, ९/३३। † गीता, १३/८।

कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्ग-सुख का अन्त अवश्यम्भावी है। यज्ञकर्ता को पुण्य का क्षय होने पर पुनः पृथ्वी पर लौटकर जन्म-जन्मान्तर के चक्र में पड़ आवागमन करना पड़ता है। इस बात को समझकर ज्ञानी जन स्वर्ग पाने की आकांक्षा का भी परित्याग करते हैं। यह जीवन जन्म-मृत्यु के द्वारा आबद्ध है। अनन्त जीवन या मुक्ति पाने के लिए हमें ज्ञानलाभ या ईश्वरोपलब्धि करनी होगी।

इस प्रकार विचार के द्वारा हम जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे—"यदि जानता कि जगत् सत्य है, तो कामारपुकुर को सोने से मढ़ डालता।" एक नवाब के एक वज़ीर की कहानी है। एक रात मूसलाधार बारिश हो रही थी, मौसम बहुत ही खराब था। नगर के रास्तों में घुटनेभर पानी इकट्ठा हो गया था। आधी रात को अपने घर में सोये हुए एक धोबी-दम्पति ने ऐसी आवाज सुनी, मानो कोई उसी रास्ते से होकर जल पार करते हुए चला जा रहा है। बरसात लगातार हो रही थी, इसलिए चलनेवाले ने थोड़ी देर के लिए धोबी के बरामदे में शरण ली। बाहर पदचाप सुनकर धोबी की स्त्री ने अपने पति से कहा, "इस घोर रात में, इस खराब मौसम में रास्ते से होकर कौन जा रहा होगा?" धोबी ने उत्तर दिया, "और कौन होगा? या तो राह का कुत्ता होगा या फिर किसी बड़े आदमी का नौकर होगा। नहीं तो इस बुरे मौसम की रात में भला कौन बाहर निकलेगा?" वास्तव में वह चलनेवाला नवाब का वजीर था, जिसे नवाब ने एक आवश्यक कार्यवश बुला भेजा था।

उसने धोबी-दम्पति की बात सुनी और वह समझ गया कि बड़े आदमी का कर्मचारी होने के कारण उसे कुत्ते की श्रेणी में रखा गया है। उसमें अपने पद के प्रति ग्लानि का भाव पैदा हुआ और वह सब कुछ त्यागकर भगवान् की प्राप्ति के लिए तपस्या करने चला गया। जीवन में इस प्रकार कोई आघात लगने पर मनुष्य का मन त्याग के भाव से परिपूर्ण हो उठता है, उसकी सम्पूर्ण जीवनधारा ही बदल जाती है तथा वह ईश्वर की आराधना में मनोनियोग करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि जीवन का उद्देश्य है ईश्वरोपलब्धि। ईश्वरोपलब्धि से तात्पर्य है—अपने अन्तर्निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करना या दूसरे शब्दों में, बन्धन से मुक्ति। स्वामीजी ने धर्म की परिभाषा करते हुए ज्ञान-कर्म आदि चार मार्गों की बात कही है। हमें उनमें से एक या एकाधिक मार्गों के सहारे अपना अन्तर्निहित देवत्व प्रकट कर मुक्त होने का प्रयास करना होगा। 'मैं' और 'मेरा' का बोध ही बन्धन है। हम अज्ञानवश आत्मा और अनात्मा को एक में मिला डालते हैं और इन दोनों के सम्मिश्रण को 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं। इसी 'मैं-मेरा'-बोध तथा अहंकाररूपी बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान आदि चार मार्गों का प्रावधान किया गया है। गीता में भी इन चार रास्तों की बात कही गयी है। इनमें से किसी एक का भी अनुसरण करने पर अहंकार का नाश होता है। इन चारों पथों का उद्देश्य हमारे अहंकार को दूर कर हमें बन्धन-मुक्त करना है। सामान्यत: हम एक से अधिक मार्गों का ही अवलम्बन करते हैं। हमारे मन का गठन ही ऐसा

है कि एक ही पथ उसके लिए पर्याप्त नहीं होता। भक्ति, ज्ञान, कर्म एवं ध्यान इन भावों के सम्मिश्रण से ही हमारे मन का गठन हुआ है। इनमें से प्रत्येक हमारी प्रकृति में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। इन सब भावों को एक साथ लेकर ही मुक्तिलाभ के पथ पर चलना श्रेयस्कर है। इसीलिए स्वामीजी ने इनमें से एक, एकाधिक या सभी उपायों द्वारा मुक्तिलाभ की बात कही है।

वर्तमान युग में हम देखते हैं कि लोग धर्म के नाम पर नाक-भौंह सिकोडते हैं। लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और कहते हैं--"ईश्वर नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक सत्यों के समान ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिए हम ईश्वर को नहीं मानेंगे। फिर धर्म भी तो एक नहीं, अनेक हैं। और इन विविध धर्मों में भी आपस में विवाद है। अतः कौनसा धर्म सच्चा है, यह भी तो नहीं कहा जा सकता।" तर्क करते हुए वे और भी कहते हैं --"धर्म की कोई ज़रूरत नहीं, ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। बहुत हुआ तो यह कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्तियों के माध्यम से एक ही उद्देश्य की सिद्धि होती है और वह यह कि परलोक का भय दिखाकर लोगों को नियंत्रण में रखा जा सकता है, उन्हें अच्छी तरह चलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त धर्म की अन्य कोई उपयोगिता नहीं है।" यह है आधुनिक मानव का दृष्टिकोण।

अब यदि धर्म का अर्थ अनुभूति या ईश्वरोपलब्धि हो, तब तो यह वैज्ञानिक सत्य की श्रेणी में आएगा। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक सत्य का निरीक्षण-

परीक्षण करने के बाद, जाँच की कसौटी पर खरा उतरने पर ही, उसे प्रमाणित सत्य के रूप में स्वीकृति मिल सकती है। धार्मिक व्यक्ति कहते हैं कि ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि सम्भव है। "क्या आपने ईश्वर को देखा है?" स्वामी विवेकानन्द (तब नरेन्द्रनाथ) के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्णदेव ने यही बात कही थी। स्वामीजी ने मानो आधुनिक मानवजाति के प्रतिनिधि के रूप में ही यह प्रश्न किया था। वर्तमान युग के मानव-मन में जो सन्देह है, आधुनिक शिक्षा में शिक्षित तथा पाश्चात्य दर्शन एवं विज्ञान से परिचित स्वामीजी के मन में भी वही सन्देह उठा था। वे ईश्वर के अस्तित्व के बारे में संशयसम्पन्न हुए थे। इस सन्देह को दूर करने के लिए ही वे अपने परिचित प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति से यह प्रश्न किया करते कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? परन्तु कहीं भी उन्हें इस प्रश्न का सीधा उत्तर न मिला। अन्त में श्रीरामकृष्णदेव से यही प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया था—"हाँ! ईश्वर को देखा है, उनके साथ बातें की हैं और तू यदि चाहे तो तुझे भी दिखा सकता हूँ।" श्रीरामकृष्णदेव ने इतनी दृढ़ता के साथ ये बातें कही थीं कि स्वामीजी का ईश्वर के अस्तित्व के बारे में सन्देह चला गया। श्रीरामकृष्णदेव के स्पर्श से अति-चेतन स्तर पर पहुँचकर उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों का सत्यापन किया।

अब विज्ञानवादी यह कह सकते हैं कि तर्क के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व नहीं प्रमाणित किया जा सकता। हाँ, यह सही है कि ऐसा नहीं किया जा सकता; क्योंकि तर्क सीमित है—वह हमारे चेतन स्तर की सीमा के भीतर

ही क्रियाशील है। तर्क में असीम को जानने या प्रमाणित करने की क्षमता नहीं है। मन की सहायता से हम असीम की थाह नहीं पा सकते। तर्क-युक्ति तो मन की एक वृत्ति मात्र है, अतः उसके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना असम्भव है। यदि हम ईश्वर को जान ले सकें--उसे विचार की सीमा में ले आ सकें, तब तो वह ईश्वर नहीं रह जाएगा। तब वह असीम नहीं रहेगा, बल्कि हमारी तरह सीमाबद्ध हो जाएगा। जो कुछ हमारी विचार-बुद्धि के क्षेत्र में आता है, वह सब ससीम है। अतः मन या युक्ति के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना सम्भव नहीं। यदि हम युक्ति की सहायता से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो कोई दूसरा हमसे भी ज्यादा बुद्धिमान् व्यक्ति युक्ति के सहारे ही उसका खण्डन भी कर सकता है। अतएव प्रत्यक्ष अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है। अपनी पूर्णसत्ता के द्वारा अतीन्द्रिय स्तर पर हम जो साक्षात्कार करते हैं, वह मन की पहुँच से परे है। हमारा मन पूर्णसत्ता का एक अंश मात्र है। अतः पूर्णसत्ता के द्वारा हम जो अतिचेतन (समाधि) की अनुभूति करते हैं, उसे चेतन स्तर की युक्तियों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि वह युक्ति-विरोधी नहीं होता, क्योंकि युक्तिरूपी वृत्ति से समन्वित हमारा यह मन हमारी पूर्णसत्ता में ही अन्तर्भुक्त है। सत्योपलब्धि का झूठा दावा करके कोई हमें धोखा भी नहीं दे सकता, क्योंकि उसने सत्यानुभूति की है या नहीं, यह उसके आचरण से ही प्रमाणित हो जाएगा। वह मनुष्य मात्र से प्रेम करेगा। धार्मिक अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय तथा आत्मपरक होती हैं, वस्तुपरक नहीं। प्रश्न उठ सकता है कि

अमुक ने जो सत्योपलब्धि की है, उसका प्रमाण क्या है ? उसके जीवन एवं बाह्य आचरण के द्वारा ही वह प्रमाण प्रकाशित होगा। उसका आचरण देखकर ही हम समझ जाएँगे कि उसे ईश्वरोपलब्धि हुई है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। अतीन्द्रिय स्तर पर पहुँचकर ही ईश्वर को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, और वही उसके अस्तित्व का प्रमाण है। अब यदि विज्ञान के अनुयायी अतीन्द्रिय उपलब्धि को ही न मानना चाहें, तो यह अन्याय होगा। यदि एक वैज्ञानिक से विज्ञान के किसी सत्य का प्रमाण माँगा जाय, तो वह कहेगा कि मेरी प्रयोगशाला में आकर, मैंने जिस प्रकार प्रयोग करके देखा है, वैसे ही तुम स्वयं भी परीक्षा करके देख लो कि मैं जो कहता हूँ वह सत्य है या नहीं। एक अतीन्द्रिय-अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति भी यही बात कह सकता है कि मेरे पास आओ, मैं जैसे चलता हूँ वैसे ही चलो, संयमपूर्ण जीवन बिताओ, मन को नियंत्रित एवं एकाग्र करो, तभी तुम सत्य की उपलब्धि कर सकोगे। दोनों ही क्षेत्रों में एक ही प्रकार का उत्तर मिलता है। हम सत्यापन करके देखने को तो तैयार हैं नहीं, फिर भी कहते फिरेंगे कि सब बेकार की बातें हैं !

भगवान् हैं——यह बात पूर्णरूपेण सत्य है। महापुरुषों ने उनका साक्षात्कार किया है। धर्म हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। धर्म को छोड़ हम कुछ भी नहीं कर सकते। अतः जीवन के चरम लक्ष्य——परमसत्य——की उपलब्धि के लिए हममें से प्रत्येक को कुछ न कुछ करना ही होगा। प्राचीनकाल में हमारे जीवन का आदर्श था—— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग को प्राप्त करना। मोक्ष परम आदर्श था तथा धर्म, अर्थ और काम का स्थान

उससे नीचे था। अपने चरम लक्ष्य ईश्वरोपलब्धि को न भूलते हुए, कुछ भोग तथा एक सीमा तक धनसंचय का भी विधान दिया गया था। परन्तु आजकल हम लोग उस आदर्श को विस्मृत कर, येन-केन-प्रकारेण भोग और धन-संचय के पथ पर बेतहाशा दौड़ रहे हैं। पृथ्वी पर सर्वत्र यही आधुनिक धर्म हो चला है। यह बात हमने भुला दी है कि ईश्वरोपलब्धि ही जीवन का मूल आदर्श है और यह कि इसके लिए हमें प्रतिदिन अपना कुछ समय ईश्वर-आराधना के लिए देना होगा। हम भगवान् से दूर चले आये हैं, इसीलिए आज जगत् में इतनी अव्यवस्था दृष्टि-गोचर हो रही है।

इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए हमें भगवान् को पुनः लाकर अपने जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना होगा। चाहे जैसे भी हो, हमें अपने अन्तर्निहित देवत्व के विकास के निमित्त नियमित साधना करनी होगी।

○

रसद्दार मथुर (६)

मूल बँगला लेखक—*नित्यरंजन चटर्जी*, कलकत्ता

अनुवादक—*श्यामसुन्दर चटर्जी*, कवर्धा (म. प्र.)

(गतांक से आगे)

जानबाजार की कोठी में दुर्गापूजा है। मथुरामोहन गदाधर को अपने साथ लेकर आये हुए हैं। पत्नी जगदम्बा दासी का मन भी आनन्द से भर गया। गदाधर तो उनके स्वजनों से कहीं अधिक हैं। वे तो आत्मा के आत्मीय हैं। वे सब उनके पास संकोच और द्विधा से परे हैं। उनसे कोई बात छिप नहीं सकती है। एक ही शय्या पर वे लोग कितने दिन सोये हैं। कहाँ, मन में तो तनिक-सा भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। शिशु के समान जो इतने सरल हैं, उनके समक्ष लज्जा, संकोच करने की कोई बात ही नहीं उठती।

"बावा हम-जैसे मनुष्य थोड़े ही हैं। उनके पास कोई बात छिपाकर क्या करूँगी। उन्हें तो सब कुछ मालूम हो जाता है। पेट की बात भी उनसे नहीं छिपती।"—जगदम्बा यह बात सभी को बताती हैं।

मथुरामोहन ने गदाधर को वेश-विन्यास के लिए साड़ी, ओढ़नी, घाघरा, चोली, केशराशि, स्वर्ण-आभूषण तथा नूपुर सब कुछ खरीद दिया था।

गदाधर का अभी सखीभाव है। महिलाओं के साथ खड़े हो कभी चँवर से प्रतिमा को व्यजन करते हैं। कभी उसे बिल्कुल उसी ढंग से सजाते हैं, जैसे महिलाएँ किया करती हैं। चाल-चलन, बातचीत किसी भी तरह उन्हें पहचान पाना कठिन होता है। मानो समस्त भेदाभेद से परे शुद्ध आत्मा हैं।

वहाँ उपस्थित महिलाओं को उनसे लेशमात्र संकोच

नहीं होता। और होगा भी क्यों ? जिन्होंने संकोच प्रदान किया है, उन्होंने ही तो उनकी समस्त कुण्ठा, समस्त दुविधा को भी हर लिया है।

पूजागृह प्रकाश की जगमगाहट से इन्द्रपुरी-जैसा हो उठा है। लोगों की भीड़ भी खूब है। माँ की सन्ध्या-आरती में विशेष विलम्ब न होने के कारण जगदम्बा दासी गदाधर को यहाँ-वहाँ कमरों में खोजती फिर रही हैं।

"अरे ! बाबा तो यहाँ समाधिस्थ बैठे हैं ! इस अवस्था में उन्हें छोड़कर जाना भी तो उचित नहीं होगा।" —— जगदम्बा चिन्तित हो उठीं।

थोड़ी ही देर में जब सन्ध्या-आरती के बाजे बजने लगेंगे, तब तो वे किसी भी तरह यहाँ ठहर नहीं सकेंगे। भावावेश में जाते समय कहीं भी गिर पड़ने की सम्भावना है। देखो न, उस दिन आग में ही गिर पड़े थे। उनका शरीर भी जल गया था। कितने दिन लग गये थे घाव को ठीक होने में। अब क्या किया जाय ?

अचानक मन में एक उपाय सूझा। अपने आभूषण लाकर गदाधर को पहना दिये। देह पर एक अच्छी-सी साड़ी भी लपेट दी। फिर कान के पास मुँह ले जाकर बोलीं, "अब आरती शुरू होगी, चँवर झलने नहीं चलोगे, बाबा ?"

यह बात जादू के समान काम कर गयी। माँ के नाम से धीरे-धीरे उनकी समाधि भंग हुई। उन्होंने आँख खोल-कर देखा और उठकर स्त्री-वेश में ही जगदम्बा के साथ चलने लगे।

सन्ध्या-आरती आरम्भ हुई। वे महिलाओं के बीच खड़े हो चँवर झलने लगे। हाव-भाव, बोल-चाल में किसी भी तरह उन्हें पहचाना नहीं जा सकता था।

मथुरामोहन जगदम्बा के पास खड़ी हुई महिला को अपलक देख रहे थे ।

"इन्हें तो कहीं देखा नहीं है । हो सकता है, जगदम्बा की कोई परिचिता होंगी ।"––मथुरामोहन मन ही मन सोचते हैं ।

पूजा समाप्त हुई । प्रतिमा को प्रणाम कर सब लोग एक-एक करके विदा हुए ।

"तुम्हारे पास जो महिला खड़ी थी, वह कौन थी ? उसे तो यहाँ कभी देखा नहीं"––मथुरामोहन ने जगदम्बा से पूछा ।

जगदम्बा को हँसी आ गयी ।

"यह क्या जी, जिनकी सेवा नित्य करते हो, जिनकी कृपा से ही हमें सब कुछ प्राप्त है, उन्हीं को तुमने नहीं पहचाना ! भावावस्था में, स्त्री-वेश धारण कर बाबा ही तो माँ को चँवर झल रहे थे ।"

मथुरामोहन अवाक् रह गये ।

"हे मेरे भगवान्, जब तक तुम स्वयं न बतला दोगे, तुम्हें कौन पहचान पाएगा ? दिन-रात तुम्हारे साथ हूँ । सदा-सर्वदा तुम्हारी सेवा में रत हूँ । फिर भी तुम्हें पहचान न सका । अभी भी मेरा भ्रम दूर नहीं हुआ है । हे कृपा-सिन्धु, दया करके मोह के इस आवरण को हटा दो । इन आँखों से अनन्तकाल तक केवल तुम्हें ही देखूँ ।"

मथुरामोहन ने दोनों हाथों को जोड़कर माथे से स्पर्श किया ।

एक दिन हृदय को अन्तःपुर में बुलाकर मथुरामोहन ने पूछा, ' बताओ तो, इन महिलाओं के बीच तुम्हारे मामा कौन हैं ?"

हृदय बहुत देर तक अपलक देखता रहा, किन्तु मामा को पहचान न सका। मथुरामोहन की भाँति हृदय को भी आँखों का भ्रम है, नयन रहते हुए भी दृष्टिहीन है।

जो श्याम हैं, वे ही तो श्यामा हैं। उनके अनन्त रूप को समझ पाना क्या इतना सहज है?

महापूजा की सप्तमी बीत गयी। अष्टमी हो गयी। नवमी भी निकल गयी। आ गयी विजयादशमी। आज प्रतिमा-विसर्जन का दिन है। पूजा का प्रांगण रिक्त हो जायगा। चारों ओर उदासी की छाया दिखायी दे रही है।

सुबह से ही मथुरामोहन अनमने हैं। उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। नयनों से अविरत अश्रुधारा बह रही है।

"आपकी उपस्थिति के बिना प्रतिमा का विसर्जन कैसे होगा?"——पुरोहित आकर मथुरामोहन को सूचित करता है।

मथुरामोहन खीज उठे।

"मैं माँ का विसर्जन होने नहीं दूँगा। मुझमें उनकी नित्यपूजा करने की सामर्थ्य है। पूजा जैसी हो रही है, वैसी ही होती रहेगी। मेरी अनुमति के बिना यदि किसी ने प्रतिमा का विसर्जन किया, तो खून-खराबी हो जायगी।"

पुरोहित मथुरामोहन को भलीभाँति जानता है। बात को और न बढ़ाकर वह लौट गया।

मथुरामोहन का भावान्तर चिन्ता का कारण हो उठा। आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव सभी आये। नाना प्रकार से उन्हें समझाया। किन्तु मथुरामोहन की एक ही रट रही——"मैं प्रतिमा विसर्जन करने नहीं दूँगा। माँ की पूजा नित्यप्रति करूँगा।"

मथुरामोहन को सभी जानते हैं। जो ठान लेते हैं, उसे करके ही छोड़ते हैं। ऐसे हठी मनुष्य के साथ और कुछ बोलने का साहस किसी को नहीं हुआ।

अन्तिम सहारा गदाधर हैं। सबने जाकर उन्हीं को पकड़ा। कहा—"इस विपत्ति से हम लोगों को यदि आप नहीं उबारेंगे तो कौन उबारेगा?"

गदाधर का मन द्रवित हो गया। मथुरामोहन के पास आकर उपस्थित हुए। मथुरामोहन कमरे में चहलकदमी कर रहे थे। उनके अंग-प्रत्यंग में चांचल्य की छाया छायी हुई थी। चेहरा गम्भीर और तमतमाया हुआ था। घूमती हुई आँखें लाल हो उठी थीं।

गदाधर ने उन्हें समझाया। किन्तु आज कौन सुनता है, उनकी बात? रौद्र मूर्ति है मथुरामोहन की। मानो किसी असामान्य शक्ति ने उन्हें अपने वश कर रखा है। वे तो बस वही एक रट लगाये हुए हैं।

"बाबा, कोई कुछ भी कहे, मैं माँ का विसर्जन नहीं करने दूँगा। पूजा जैसी हो रही है, वैसी ही होती रहेगी। माँ को त्यागकर किसी भी तरह मैं नहीं रह सकता?"

मथुरामोहन वियोग की कल्पना से विह्वल हो उठे हैं। पर गदाधर हँसते हैं। उनकी हँसी अभयप्रद है, शंका का नाश करनेवाली है। अचानक गदाधर मथुरामोहन को स्पर्श कर देते हैं।

"तुम्हें यही तो भय है न, पर किसने कहा कि तुम्हें माँ को छोड़कर रहना पड़ेगा? विसर्जन कर देने पर भी वे जाएँगी कहाँ? अरे, पुत्र को छोड़कर माँ क्या रह सकती हैं? इतने दिनों तक उन्होंने तुम्हारी पूजा घर में ग्रहण की है। अब तुम्हारी पूजा वे तुम्हारे अन्तर में बैठकर लेंगी।"

स्पर्श में क्या जादू था, कौन जाने। मुहूर्त में ही मथुरा-मोहन का समस्त क्रोध शान्त हो गया। वे गदाधर के साथ पूजामण्डप में पहुँच गये, जिससे विसर्जन का लग्न निकल न जाय।

"बात करते करते वैसा स्पर्श क्यों कर दिया जानते हो? उससे व्यक्ति के हठ का तेज कम हो जाता है और बात उसे ठीक-ठीक समझ में आ जाती है।"—बाद में किसी के पूछने पर गदाधर ने समझाया था।

तोतापुरी दक्षिणेश्वर आये हुए हैं। उन्हें निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो चुकी है।

"तोता मुझे दीक्षा देने आया है। माँ ने मुझे सब बता दिया है।"—गदाधर बोले।

शिक्षा का प्रारम्भ एवं समापन एक ही साथ हो गया। जिस दिन आरम्भ हुआ, उसी दिन समाप्त भी हो गया। वेदान्ती तोतापुरी तो हतप्रभ रह गये। जिस समाधि को सिद्ध करने के लिए उन्हें चालीस वर्ष का दीर्घ समय लगा था, गदाधर ने उसे एक ही दिन में अर्जित कर लिया! जिस अद्वैत भाव की भूमि पर पहुँचकर इक्कीस दिनों से अधिक देह का टिकना सम्भव नहीं होता, वहाँ गदाधर लगातार छः माह तक रह गये।

गदाधर को अब संन्यास ग्रहण करना पड़ा। गर्भ-धारिणी माँ को दुःख होगा यह सोचकर उनके अनजान में ही संन्यास लिया। पुराना नाम मिट गया और रामकृष्ण का नया नाम प्राप्त हुआ।

दक्षिणेश्वर के एक वृक्ष पर भैरव का वास था। वह इस देवस्थान की रक्षा करता था। तोता ने उसे एक दिन देखा और यह बात श्रीरामकृष्ण को बतायी।

"हाँ, हाँ, मुझे मालूम है। मैंने भी उसे देखा है। उस समय जब कम्पनीवाले बारूद कोठी तैयार करने के लिए पंचवटी की जमीन पर अधिकार कर लेना चाहते थे, तब मन में बड़ा दुःख हुआ। माँ से प्रार्थना की--माँ ! इस एकान्त स्थल पर बैठकर तेरा जो थोड़ा बहुत ध्यान करता था, शायद वह भी अब नहीं होगा। कम्पनी के साथ सेजोबाबू का मामला चल ही रहा था। खर्च भी प्रचुर हो रहा था। मन में बड़ा भय था, मालूम नहीं क्या होगा। एक दिन देखता हूँ, भैरव पेड़ पर पैर लटकाकर बैठा है। उसने मुझे इशारे से बुलाकर कहा--डरना नहीं, कम्पनी हार जायगी। और हुआ भी तो ठीक वही।"

एक बार श्रीरामकृष्ण की कामना हुई कि साधुओं के वीच वस्त्र, कम्बल एवं नित्य व्यवहार की वस्तुएँ वितरित करें। मथुरामोहन ने यह बात सुनी। उन्होंने कालीमन्दिर के एक कमरे को आवश्यक सामग्री से भर दिया। श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार वे वस्तुएँ साधुओं के बीच वितरित की जाती थीं।

श्रीरामकृष्ण की तन्त्र-साधना की समाप्ति पर मथुरा-मोहन ने अन्न भेंट किया था। ब्राह्मणों को सोना-चाँदी के अतिरिक्त हजार मन चावल-दाल और हजार मन तिल भी वितरित किया था।

तोतापुरी चले गये। गोविन्दराय आ पहुँचे---अरबी एवं फारसी के विद्वान्। जाति से क्षत्रिय थे, पर उन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था।

"मैं इस्लाम धर्म ग्रहण करूँगा"--श्रीरामकृष्ण बोले।

"मुसलमान क्यों बनोगे ? हिन्दू होकर अच्छे ही तो हो।"--गोविन्दराय को विश्वास नहीं हुआ।

"वह भी तो एक पथ है, जी। सभी पथों का संगम उस एक ही स्थान पर हुआ है, जहाँ कोई भेदाभेद, द्वन्द्व, संशय का अस्तित्व नहीं है।"

गोविन्दराय को बात समझ में आ गयी। और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस्लाम धर्म में श्रीरामकृष्ण की दीक्षा हो गयी।

पहनने का वस्त्र हुआ लुंगी। माँ-काली का नाम मन से मिट गया। रात-दिन अल्ला-अल्ला का जाप करने लगे। मन्दिर की माँ-काली मन्दिर में ही पड़ी रही। श्रीरामकृष्ण उस ओर भूलकर भी न देखते। त्रिसन्ध्या नमाज पढ़ने लगे।

मथुरामोहन की दृष्टि सदा-सर्वदा उन पर बनी रहती। फिर हृदय भी तो था।

"यह तुम्हारा कौन-सा ख्याल हुआ, बाबा?"—मथुरामोहन ने प्रश्न किया।

"सभी पथ एक ही जगह आकर मिले हैं, सेजोबाबू! यह शास्त्रवाक्य है। स्वयं को सब करके देख लेना पड़ेगा न।"—श्रीरामकृष्ण ने कहा।

"मैं मुसलमानों का खाना खाऊँगा। मेरे लिए यह व्यवस्था कर दो, सेजोबाबू।"

"नहीं, यह कैसे हो सकता है? यह तुम्हारा कैसा ख्याल है, बाबा!"

"क्यों नहीं हो सकता? तुम्हें यह व्यवस्था करनी ही होगी।"—श्रीरामकृष्ण अपनी बात पर दृढ़ हैं।

"ठीक है, किन्तु हिन्दू ब्राह्मण खाना बनाएगा। मुसलमान बावर्ची दूर से सब बता देगा। अब इसमें तुम कोई आपत्ति न करो, बाबा!"

खाना बनाना आरम्भ हुआ। तीखा, प्याज-लहसुन-युक्त उग्र व्यंजन। खड़े खड़े श्रीरामकृष्ण अवलोकन कर रहे हैं।

"यह क्या, रसोइये का वेश बावर्ची-जैसा तो नहीं है?"

रसोइये को वैसा वेश धारण करना पड़ा। कछौटा छोड़कर धोती को लुंगी जैसा बनाकर पहनना पड़ा। श्रीरामकृष्ण ने रिकाबी में भोजन किया तथा मुसलमानों की भाँति गड़ुए से पानी पिया।

मथुरामोहन चिन्तित हुए। कहीं बाबा और कुछ कर न बैठें!

"तुम्हें लज्जा नहीं आती? ब्राह्मण-पुत्र होकर, कछौटा त्यागकर नमाज पढ़ते हो? माँ का नाम उच्चारण करना भूल गये हो? यह तुम्हारी कैसी मति हुई है?"——हृदय श्रीरामकृष्ण को पकड़कर कालीमन्दिर में ले आया। कुछ क्षण पश्चात् हृदय ने कहीं से लौटकर देखा, मामा वहाँ नहीं हैं। इधर-उधर खोजने पर भी वे नहीं मिले। हृदय पागल-सा होकर मामा को खोजने लगा।

कुछ ही दूर पर मस्जिद है। वहीं श्रीरामकृष्ण दिखायी दिये। मुसलमानों के साथ नमाज पढ़ रहे हैं। उनमें थोड़ी भी जड़ता या संकोच नहीं है। सहज, सरल, स्वस्थ हाव-भाव। मानो यह उनका अनेक दिनों का अभ्यास हो।

"हृदे, मैं तो कुछ भी नहीं जानता रे। कोई मुझे जबरन पकड़कर यहाँ ले आया।"——कण्ठ में अपराधी का स्वर है।

नमाज पढ़नेवाले तो अवाक् रह गये। "ये हिन्दू हैं न? पर कहीं पर कोई त्रुटि दिखायी नहीं देती। नमाज की नियम-निष्ठा मानो इन्हें कण्ठस्थ हो गयी है!"——अन्य

नमाजी बोल उठे।

यह भाव तीन दिन तक रहा।

श्रीरामकृष्ण मस्जिद में नमाज पढ़ने के लिए आये हैं। फकीर की वेशभूषा में एक ज्योतिर्मय पुरुष उनके समक्ष आकर उपस्थित हो गये। सिर के बाल काँस-फूल की तरह बिलकुल सफेद। मूँछ-दाढ़ी भी वैसी ही है। सौम्यमूर्ति, मानो विराट् ब्रह्म का ही प्रतिभास है। श्रीरामकृष्ण को देखकर वे खुश हुए और दोनों हाथ ऊपर उठाकर अभिनन्दन किया।

और एक दिन की घटना है।

श्रीरामकृष्ण वटवृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान कर रहे हैं। एक प्राणमय पुरुष उनके सम्मुख आकर उपस्थित हो गये। रिकाबी में से म्लेच्छों का उच्छिष्ट चावल निकालकर उनके मुँह में डाल दिया। भेदबुद्धि दूर हो गयी। माँ ने दिखा दिया, एक के सिवाय दो नहीं है।

पोखर के चारों ओर चार घाट हैं। कोई पूर्व के घाट से, तो कोई पश्चिम से, फिर कोई उत्तर से, तो कोई दक्षिण के घाट से आता है। कोई कहता है——पानी लेने आया हूँ। कोई कहता है, जल। कोई कहता है——वाटर, तो कोई कहता है——एकुआ। केवल मार्ग ही अलग हैं और नाम अलग——चार मुँह से चार नाम, किन्तु वस्तु तो एक ही है।

ईश्वर भी ठीक ऐसा ही है। जिस किसी भी मार्ग से आगे क्यों न बढ़ो, जो भी नाम लेकर उन्हें पुकारो, है तो वही एक सच्चिदानन्द सागर, वही एकमेवाद्वितीयम्।

"सेजोबाबू, सुनता हूँ देवेन्द्र ठाकुर खूब ईश्वर-चिन्तन करते हैं। एक बार मुझको उनके पास ले जा सकते हो? जो ईश्वर का ध्यान करता है, उसे देखने की बड़ी इच्छा

होती है।"

"ठीक है, बाबा, तुम्हारी जब इच्छा हुई है, एक दिन उनके पास ले जाऊँगा। देवेन्द्र के साथ मेरा घनिष्ठ परिचय है। वह तो मेरा सहपाठी भी था।"

श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हो उठे।

"चलो, अच्छा हुआ। मेरे साथ परिचय होगा और तुम्हारे साथ भेंट हो जायगी।"

मथुरामोहन श्रीरामकृष्ण को अपने साथ लेकर जोड़ासांको के ठाकुरगृह में गये। दीर्घकाल बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ के साथ उनकी भेंट हुई। उपहास करते हुए देवेन्द्रनाथ ने मथुरामोहन से कहा—"तुम बहुत बदल गये हो। तुम्हारी तोंद तो बढ़िया हुई है।" दोनों मित्र अट्टहास कर उठे।

"ये ईश्वर-प्रेम में पागल हैं। तुम्हारे साथ परिचित होने की तथा दो बातें करने की इनकी बड़ी इच्छा है। इसीलिए इन्हें साथ लाया हूँ, जिससे तुम्हारे साथ परिचय हो जाय।"—श्रीरामकृष्ण की ओर इंगित करते हुए मथुरा-मोहन बोले।

देवेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण की ओर देखा।

"तुम अपनी कमीज जरा उठाओ तो। एक बार देखूँ तुम्हारी देह को।"—श्रीरामकृष्ण ने कहा।

देवेन्द्रनाथ को हँसी आ गयी। उन्होंने अपनी कमीज उठाकर अपना देहवर्ण दिखा दिया।

"वाह, तुम्हारे तो बहुत अच्छे लक्षण हैं, जी। तुम कलि के जनक हो। इस ओर, उस ओर दोनों ओर ठीक रखे हुए हो। मुझे कुछ ईश्वरीय बातें सुनाओ।"

देवेन्द्रनाथ ने वेदों से कुछ उद्धृत करके सुनाया तथा

सहज उपमा देकर समझा दिया। श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हो गये।

"हम लोगों के उत्सव में तुम्हें आना पड़ेगा। किन्तु धोती पहनकर और एक चादर ओढ़कर आना। अस्त-व्यस्त होकर आने से कोई कुछ कह देगा, तो मुझे बड़ी पीड़ा होगी।"——श्रीरामकृष्ण की विदाई के समय देवेन्द्रनाथ ने कहा।

"क्या मालूम, भाई, माँ की क्या इच्छा है। किन्तु बाबू बनना मेरे बस का नहीं है। यह मेरे स्वभाव में ही नहीं है, यह तुमको बताये देता हूँ।"

देवेन्द्रनाथ और मथुरामोहन दोनों हँस देते हैं।

मथुरामोहन श्रीरामकृष्ण को लेकर दक्षिणेश्वर लौट आये। कुछ दिनों पश्चात् मथुरामोहन को देवेन्द्रनाथ का एक पत्र प्राप्त हुआ।

"उत्सव में मुझे उनकी आवश्यकता न होगी। देह पर चादर न रहने से असभ्यता होगी।"

अब श्रीरामकृष्ण को हँसी आ गयी। उन्होंने कहा——"देवेन्द्रनाथ को अभिमान खूब है। इतना ऐश्वर्य, विद्या, मान, सम्भ्रम जो है। किन्तु जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है, वह 'मैं विद्वान् हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ,' ऐसा कहकर क्या अभिमान कर सकता है, जी?"

भैरवी मथुरामोहन को प्रतापरुद्र कहती थी। प्रताप-रुद्र उड़ीसा के राजा थे, चैतन्यदेवके समकालीन। विद्या-नुरागी, प्रजावत्सल तथा धार्मिक के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। प्रजा भी उनके प्रति खूब श्रद्धा रखती थी। उनके प्रति प्रजा का प्राणतुल्य प्यार था।

चैतन्यदेव का पुरीधाम में आगमन हुआ और उन्होंने भक्तितत्त्व का प्रचार शुरू किया। राजा प्रतापरुद्र ने चैतन्य-

देव से भेंट करने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु चैतन्यदेव राजप्रासाद जाने के लिए सहमत नहीं हुए।

कुछ दिन बीत गये। एक दिन भावावेश में मूर्छित चैतन्यदेव की चरणसेवा करने का सुयोग राजा प्रतापरुद्र को प्राप्त हुआ। उसी दिन से उनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। उन्होंने चैतन्यदेव का गुरुरूप में वरण किया। राजसुख, राजभोग सब कुछ त्याग दिया। भोगी त्यागी हो गया। प्रतापरुद्र का अन्तर्मन चैतन्यमय हो उठा। उड़ीसा में वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान बहुत अधिक रहा।

मथुरामोहन को प्रतापरुद्र कहने का कारण ऐसा ही था। वे श्रीरामकृष्ण के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। उनके किसी भी आदेश का पालन करने में मथुरामोहन को तनिक भी हिचक न होती।

एक बार श्रीरामकृष्ण की कामना हुई कि जरी लगा हुआ वस्त्र पहनकर चाँदी के हुक्के से तम्बाकू पिएँगे। तुरन्त उसकी व्यवस्था हो गयी। श्रीरामकृष्ण राजवेश धारण कर तम्बाकू पीने लगे।

किन्तु यह सब कुछ ही क्षणों के लिए था। उन्होंने जरीवाला वस्त्र निकालकर फेंक दिया। चाँदी के हुक्के को दूर हटा दिया। राजवेश धारण करना हो जो गया था!

मथुरामोहन को इससे थोड़ी भी अप्रसन्नता नहीं हुई। बाबा के सिवाय ऐसा मिजाज दिखाना और किसको शोभा देगा ?

मथुरामोहन ने श्रीरामकृष्ण की सेवा करना ही जीवन का चरम एवं परम उद्देश्य मान लिया था। इस सेवा में निष्ठा थी, प्राण था और थी ऐकान्तिकता। ○ (क्रमशः)

श्रीलंका शरणार्थी सहायता कार्य

यह सर्वविदित है कि कुछ समय पूर्व श्रीलंका में हुए जातीय दंगों के कारण तमिलभाषी प्रवासी भारतीय बड़ी संख्या में शरणार्थी बनकर भारत में आ रहे थे। उनकी सहायता के लिए रामकृष्ण मिशन की मद्रास-स्थित दोराइस्वामी रोड, त्यागराजनगर शाखा ने मंडपम् में सहायता-शिविर का संचालन किया। शरणार्थियों का आना अभी भी जारी है और रामकृष्ण मिशन का उक्त केन्द्र अभी भी इस शिविर का संचालन कर रहा है। ३० जनवरी १९८४ तक शरणार्थियों को प्रदत्त सहायता सामग्री का ब्योरा निम्नलिखित है—

बर्तन-१४२५०) के। चटाई-१८००) के। नये वस्त्र-५६०००) के। पका अन्न-७४,२९५ लोगों को। रवा-३०० केजी। चावल-३०० केजी। दवा-२५००६) की। बच्चों के नये कपड़े-१,३८० नग। पुराने कपड़े-६,४६३। रोगियों की संख्या जिनकी निःशुल्क चिकित्सा की गयी-६,७७६। ८७ बच्चों को छात्रावासों में निःशुल्क रखा गया। ११२ बच्चों को स्थानीय शालाओं में प्रवेश देकर उनके लिए पुस्तकें आदि की व्यवस्था की गयी।

कुल दान प्राप्त – १,५३,९२१)९५
कुल व्यय – १,५४,६७२)९२

सहायता कार्य जारी है, जिसके लिए आपका उदार सहयोग अपेक्षित है। आप अपनी सहायता 'श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम' के नाम से चेक काटकर निम्नलिखित पते पर भेज सकते हैं :—

स्वामी उद्धवानन्द, सचिव, श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम,
२६, दोराइस्वामी रोड, त्यागराजनगर, मद्रास-६०० ०१७